Chapter-4

अध्याय : 4 :

पं0 विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंधों का अनुशीलन

प्रस्तावना

डा0 विद्यानिवास मिश्र आधुनिक हिन्दी निबंध साहित्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। संस्कृत , हिन्दी, अंग्रेजी के चोटी के विद्वान इतिहास, पुरातत्व, पाश्चात्य, साहित्य और संस्कृति तथा भाषाशास्त्र के ज्ञाता मिश्र जी का व्यक्तित्व बहुमुखी है। उनके निबंधों में व्यंजित भोजपुरी लोक संस्कृति के प्रति अनुराग परंपराबोध, आंचलिकता का प्रभाव, उनकी भारतीय आत्मा और शैलीकारिता आदि की प्रशंसा हिन्दी के अनेक मूर्धन्य मनीषियों और आलोचकों ने की है। इतना ही नहीं साहित्य में उनकी दृष्टि अतीत युग से लेकर आधुनिक संदर्भ तक जाती है। वे ईश्वर, जीवन एवं मानव के प्रति आस्था रखनेवाले आशावादी लेखक हैं और जीवन में प्रफुल्लता एवं उल्लास के कलाकार हैं। वे हिन्दी निबंध के आकाश में नये नक्षत्र है। किन्तु थोड़े ही समय में उन्होंने जो कुछ हिंदी संसार को दिया है उसमें हमें यह विश्वास हो जाता है कि उनके द्वारा निबंधकला एक नयी ऊंचाई पर पहुँचने में समर्थ होगी। उनमें भारतीय धरती के प्रति ही प्रेम नहीं है, किन्तु वह उनके लिए एक जीवित वस्तु है, जो उनके हृदयंत्री के तार को झंकृत कर देती है और जिसके मूक संदेश और मूक वेदना को सुन और समझ सकने की उनमें क्षमता है। उनके निबंधों में पग-पग पर इसके प्रमाण मिलते हैं। इतना ही नहीं उनकी अंतदृष्टि जितनी पैनी है उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही मर्मस्पर्शीनी है। उनकी खास खूबी यह है कि वे अपनी प्रतिक्रियाओं को ऐसे शब्दों में व्यक्त करते हैं कि सहृदय पाठक बरबस उसी भावना में डूब जाता है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात उनके निबंधों में यह है कि उनकी सूक्ष्म और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि जिसमें से हम अध:पतित समाज के मूलाधार के शिवत्व को देखने और समझने में समर्थ होते हैं। उनके इन निबंधों में अतल के अंधकार में छिपे उन मांगलिक तत्वों पर प्रकाश डालकर उन्हें आलोकित कर दिया है जिन्हें साधारण जन भौतिकता, नवीनता और सुविधा के घटाटोप से घिरे रहने के कारण देख नहीं पाते हैं। अतएव ये निबंध उच्चकोटि के ही नहीं हैं ये भारत की आत्मा के दर्पण भी हैं। उनके इन निबंधों में ने हिंदी साहित्य में उनका स्थायी स्थान

निश्चित कर दिया है। मिश्र जी ने अनेक प्रकार के निबंध लिखे हैं। अपने निबंधों में अनेक स्थानों पर पं० विद्यानिवास मिश्र जी ने सामाजिक स्थिति के संकेत दिए हैं। मिश्र जी को लगाव है भारत से, भारतीयता से। उनके निबंधों के कई निबंध संग्रह प्रकाशित हैं। जैसे कि 'तुम चंदन हम पानी', परम्परा बंधन नहीं, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, आँगन का पंछी और बनजारा मन, मेरे निबंध मेरी पसंद के, छितवन की छाँह, मैंने सिल पहुँचायी, आदि। इन निबंध संग्रहों में अलग-अलग विषयों पर निबंध लिखे हुए हैं जैसे कि सांस्कृतिक, सामाजिक, प्राकृतिक, साहित्यिक, व्यक्ति विषयक आदि। अब हम क्रमशः उनके निबंधों की विषय वस्तु प्रस्तुत कर रहे हैं।

विषय वस्तु- सांस्कृतिक निबंध :

प्राचीन भारतीय लोक संस्कृति के प्रति इनके झुकाव का ही यह फल है कि इनके निबंध संस्कृत की तत्समता से गर्भित है - 'तुम चंदन हम पानी' में एक प्रकार की सौम्यता सहजता एवं संयमित सौंदर्याकर्षण है जिसके मूल में मिश्र जी के जीवन दर्शन की स्पष्टता है। प्रस्तुत निबंध संग्रह में भारतीय संस्कृति की उच्चाशयता से अनुप्राणित करके इनके कि निबंधों में उनके प्रति जो मोह एवं आदरणीय भाव आन्वित हुए हैं, वे पाठक पर चित्रात्मक प्रभाव डालते हैं। इनके निबंधों के कतिपय शीर्षक या निबंधों के बीच एकाध वेद या उपनिषदों के सूत्र या वाक्य अतिसारगर्भित तथा बहुद्देशीय सिद्ध हुए हैं। उनके 'विनयी विंध्याचल'[1] शीर्षक निबंध में विंध्याचल का वर्णन एवं महत्व स्पष्ट किया गया है। जिस तरह मेखला की शोभा उसके विस्तार में है उसी प्रकार विंध्य की शोभा उसके एक से एक सरस प्रसार में है। यह प्रसार उसकी विनम्रता है और उसकी महत्ता भी। हिमालय और विन्ध्य की तुलना करते हुए कहा गया है कि हिमालय परमोज्वल है, महान है, विनीत है। इसीलिए वह सन्तप्तों की शरण है- दुर्बलों का आश्रय है, पीडितों का आश्वासन है। उपेक्षितों का नन्दन कानन है और थकितों का विश्राम है। उसके अंचल में उस शक्ति का निवास है जो कंस के अत्याचार का प्रतिरोध करने की प्रेरणा देती है। उसके मस्तक पर मन्दाकिनी धारा है जिस ने राम और सीता को अभिषिक्त

पर यह बहुत ही दुर्गम है जब कि विन्ध्य घनश्यामल है,

किया है । उसके हृदय में शिव का निवास है , जो एक कन्दर्प का नाश करके कोटि कंदर्पों की सृष्टि कर सकता है । उसकी संस्कृति का इतिहास आत्मदान का और सौमनस्य का इतिहास है । आज जो कुछ भी उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व का हिन्दी का सौन्दर्य है वह विन्ध्य दुलार से पला हुआ सौन्दर्य है । संक्षेप में विन्ध्य का सौन्दर्य तपोवन का सौंदर्य है जिसमें शान्ति है, निर्वैरता है, अखण्ड आहुति, दान है, यज्ञानल का आलोक है । चिन्तन की गहराई है, सरिता की गायन है, वनस्पति का स्पन्दन है, मानव का उन्नयन है और है समरसता की सुधा वर्षा । इस तपोवन में भारतीय संस्कृति के निखिल कल्याण की सृष्टि हुई है और इसीलिए वह मेखला की तरह भारत के भौगोलिक और सांस्कृतिक विस्तार को समेटनेवाला सूत्र बना हुआ है ।

'नगाधिराज हिमालय'[2] शीर्षक निबंध में नगाधिराज हिमालय का वर्णन किया गया है । कितने हिमप्रलय आये और गुजर गये, पृथ्वी पर कितने प्रयोग हुए जो स्लेट के अभ्यास की तरह धो दिए गए । शेषनाग की एक हुंकार ने विन्ध्य की कमर तोड़ दी । कल का तरुण आज बूढ़ा हो गया, सागर पंक बन गया, पंक सूखकर दलदल हुआ, दलदल भी पथराने लगा, पर नए नगाधिराज का हिम हृदय पिघला तो नयी धरती के नये सपूत ने हिमालय को रिझाने के लिए कई प्रयत्न किए, हिमालय की आराधना की, हिम-नदियों की प्रतारणा की, जटाजूट में अमर वाहिनी को बांधनेवाले हर की वंदना की, तब जाके उसके भगीरथ प्रयत्न से गाजे-बाजे के साथ गंगा दौड़ आयी, पीछे गंगाधर भी दौड़ आये। इसके बाद जन-जीवन आबाद हुआ, नया जीवन उमड़ा, नयी सभ्यता उमड़ी और नगाधिराज के घर में नया मंगल उमड़ा । ~~नयनि-स~~ जो धार्मिकता के अंतर्गत है वह यह कि शिव-पार्वती विवाह की तैयारी होने लगी । शिव को भूतनाथ कहा गया है आज इस भूतनाथ के गले में सुनहली डोर पड़ने जा रही है । हिमालय उनको घरजमाई बनाने जा रहा है । कभी वह समय था कि समस्त पर्वतों ने मिलकर जब कामधेनु पृथ्वी को दुहकर अपने रत्न पाने चाहे थे, तब हिमालय को बछड़ा बनाया था । आज उसी हिमालय के प्रांगण में विश्व के ऐश्वर्य, सौन्दर्य और आनंद बिखला रहे हैं । पृथ्वी का पुत्र हिमालय आज बूढ़े ब्रह्मा

से समधी का नाता जोड़कर परिहास कर रहा है । धरती का देवता महेश्वर मानकर पूजा जा रहा है । हिमालय की तरह भारतीय इतिहास मैदानों में द्रवित होकर दौड़ा। कैलास के शिखर से शिव विश्वनाथ बनने के लिए ज्ञानधाम काशी आये । हिमालय जो देश की विशाल एकता के बोध और गरिमामयी संस्कृति के उत्थान का प्रतीक है वह ह्रासयुग में अनालोकित होने लगा । अन्धकार घिर आया । रात भीगने लगी, कुज्झटिका का कुहक छाने लगा और भोर के लिए चकई के मन में कितनी हूक उठने लगी तब हिमालय जगा और उसके साथ जुड़ी हुई भारत की राष्ट्रीयता भी हुंकार कर उठी । कालिदास की सोयी आत्मा ने करवट ली और नगाधिराज हिमालय ने फिर एक बार भारत के कुलपर्वतों और भारत की रसवंती कुल कन्याओं को एक मंडप में आमंत्रित कर मंगल मनाया ।

'अस्ति की पुकार हिमालय'[3] निबंध के अन्तर्गत हिमालय को देवात्मा कहा गया है । राहुल जी को हिमालय के देवत्व से अधिक अस्ति पर श्रद्धा है क्योंकि वे हिमालय को भारतीय जीवन प्रवाह का स्त्रोत मानते थे । इस जीवन प्रवाह में भाषा, संस्कृति, समाज चेतना आदि शामिल है । राहुल जी के लिए केवल हिमालय ही नहीं हिमालय की प्रतिकृति संस्कृत भाषा भी उनके लिए अस्तिरूप थी । उस भाषा के मूर्धन्य कवि कालिदास अस्तिरूप थे । हिमालय की इस अस्ति की पुकार किसी को भी नहीं सुनाई पड़ती । वैसे अपनी ओर से हम सब आस्तिकता का पूरा निर्वाह करते हैं। अपने को अत्याधुनिक माननेवाले भी कुण्डली लगाते हैं । वस्तुत: हम सिद्धावस्था में पहुंच चुके हैं, इसीलिए हमें वर्तमान नहीं छूता, हम अस्ति की अटपटी भाषा नहीं समझ पाते । कैसा अस्ति, कौन अस्ति, किसके लिए अस्ति हिमालय रहा होगा । हमसे क्या ? हिमालय कुलपर्वत है, कुल का कर्ता है, जिन्दगी बस एक ठहराव रह गयी है जिसमें कुछ चीजें अटक गयी हैं, बर्फ के दबाव के से यही क्या कम है कि सही नहीं। इसी-लिए हर जिन्दगी अपने शिकार पर अलग-अलग अधिकार जमाती है, और दूसरे के शिकार को अशुद्ध बतलाती है हिमालय के 'अस्ति' का स्मरण कालिदास ने कुमार संभव

के बीज के रूप में किया है । हिमालय गौरी गुरु ही नहीं, देव सेनानी स्कन्द की जननी के पिता भी हैं। इस शक्ति की धुंधन मात्र से जैसे हमारे विजड़ित चित्र में संजोयी वस्तुएं सडांध से ग्रस्त हो जाती हैं । हम एकदम नि:स्व होने लगते हैं । हमारी नि:स्व संस्कृति का सुहाग उसी अकिंचन वर्ग में सुरक्षित है जहां देश का अस्ति है । भूगोल या इतिहास या जाति के रूप में नहीं बल्कि एक ऊंचे, उदात्त, उज्ज्वल सत्यरेखा के रूप में । यह सत्यरेखा जड़ नहीं, पुराने स्त्रोतों को नवजीवन दे रही है । यह सत्य हमारे झूठे ज्ञान के अभिमान को एक चुनौती है । हमारे सांस्कृतिक वैभव को एक चुनौती है । यह स्याह पड़ा हिमालय बाहर नहीं भीतर है । हिमालय भारत के इस गौरव का प्रतीक है जिसका दर्शन उसने अपनी सभ्यता के प्रथम यौवन में कालिदास की प्रसन्न वाणी में किया और जिसकी नन्दिनी को शिव का अर्धांग बनाके संगीत, नृत्य, नाट्य शिल्प, काव्य आदि समस्त के स्त्रोत गंगा-यमुना सरस्वती की तरह बहाया है ।

'मुकुट, मेखला और नुपूर'[4] शीर्षक निबंधानुसार मुकुट, मेखला और नुपूर जैसे इन तीन श्रृंगारों के प्रतिरूप से हिमालय, विन्ध्य और सागर, भारत की अनूठी समंजसता के विधायक हैं । मुकुट की दीप्ति, मेखला की झन-झन ध्वनि और नुपूर का उन्मद विलास परस्पर पूरक और उपकारक है और विलग नहीं । इस मातृभूमि की वंदना में जिन कवियों ने गीत गाये हैं उन सबने इसको खण्ड करके नहीं देखा । खण्ड को देखते हुए भी, इसकी अखण्डता को उसमें पाने की कोशिश की पर इस अखण्ड भूमि को अपने खण्ड से तिरोहित करने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया । विन्ध्य की विशेषताएं भारत का केवल अलंकार बनने के लिए नहीं- बल्कि उसका हृदय बनने के लिए उपयुक्त है । भौगोलिक स्थिति से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह प्रदेश उत्तर और दक्षिण पूर्व, और पश्चिम भारत का सन्धि स्थल रहा है । आज एक सुगठित और चेतन ईकाई के रूप में यह प्रदेश नयी शक्ति लेकर उठ रहा है । शक्तिशाली की विनय कायरता नहीं होती, और हिमालय अपनी ऊंचाई में बड़ा है, सागर अपनी गहराई में बड़ा है तो विन्ध्य अपने विस्तार में बड़ा है, ऐसा विस्तार जो संस्कृति के सभी कीर्तिस्तम्भों को व्याप्त करके

फैला हो । `विन्ध्य की धरती का वरदान`[5] निबंधानुसार इस देश में जिन चार संस्कृतियों का योग हुआ उनमें एक है कौल संस्कृति, उसी को निषाद संस्कृति भी कहते हैं । इस कौल संस्कृति से ही हिमालय के शिखरों जैसे गर्वीले आर्यों को विनय और एकान्त साधना की शिक्षा मिली । जिसमें उत्साह और अनुरोध का अपार बल हो, ऐसी एक प्रतिमा है विन्ध्यप्रदेश की साकार शक्ति की प्रतिमा । असल में अरण्य का जीवन मनुष्य को अपने स्वरूप में समाधान प्राप्त करने का जीवन है, उनका पूजन भी निष्प्राण नहीं सप्राण है । पूजा का यह जीवित रूप ही मनुष्य को अपने आराध्य के प्रति सुन्दरतम रूप प्रस्तुत करने की प्रेरणा भर सका है, और इसी का परिणाम है नृत्य, संगीत, शिल्प । अगर भाषा को लें तो सबसे अधिक घनिष्ठ सम्पर्क इस देश का केन्द्रीय भाषा से रहा है । यहां नल-दमयन्ती उपाख्यान भी है, उदयन के-यदि का बीजवादन है तो वासवदत्ता का हरण भी है । यक्ष-यक्षिणियों के जीवन के यदि चित्र हैं तो विद्याधरों के शाप की अकह कहानी भी है । सौन्दर्य का अथकित नर्तन है तो शौर्य का उद्दाम आवर्तन भी है । इतना ही नहीं -इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालते समय स्पष्ट हो जाता है कि जिन जिन लोगों की प्रभुता यहां कुछ सृष्टि करके गयी है, वे स्वयं आरंभ में प्रभुताहीन थे, और उनको प्रभुता भी इसी धरती से मिली। राम,अगस्त्य, रेवा के जल को हिडोलनेवाले सहस्त्रबाहु आदि । शौर्य और सौन्दर्य की सम्मिलित रागिनी के अनुगुंज में हम अलग-अलग दो धाराएं देख सकते हैं । कर्म के सतत जागरूक उत्साह की, और भावमय चिन्तन की गहन गंभीरता की। तुलसी की अपार विनय शीलता और अगाधभक्ति जिन उपादानों से रची गयी है, वे उपादान यहां के रज-रज में, तृण-तृण में और रोम-रोम में अभिव्याप्त है । गुर्गी के हरगौरी तथा खुजराहो के विष्णु जो कला छिटकाते हैं वह इस धरती के पाषाण पर सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव के लिए कोमल अन्तस्तल से ही उसने साकार रूप पाया है ।

`गंगायाँ घोषः`[6] शीर्षक निबंध में `गंगायाँ घोषः` शब्द से स्पष्ट है गंगा के तीर पर छायी हुई कुटिया । संस्कृत अनुश्रुति के पंडित के मतानुसार गंगा की

धारा में जो शीतलता, जो पवित्रता और शिवमयता है वह इस कुटिया में, गंगा के अतिशय सान्निध्य की निरन्तर भावना के सहज परिणामवश समग्रत: आ गयी है। संक्षेप में गंगा तीर पर छायी हुई होने के कारण यह कुटिया गंगा के ही समान पवित्र और शिवमय है। गंगा हमारे जातीय जीवन के क्रमिक विकास की प्रवहमान कथा है। हमारी सांस्कृतिक मुक्ति यात्रा के लिए एकमात्र जलपथ है। हमारे मर्त्यिक पार्थिव रूप की अंतिम गति है, हमारे अशेष व्यापारों को प्रेरित करनेवाली साकार क्रिया है। हम 'गंगाया घोष:' का अर्थ जब लगाने बैठते हैं तब हमें अपने घोष की घासफूस भूल जाती है। गंगा ने नारायण के चरणों से अपना उद्‌भव पाया, ब्रह्मा का अपार ज्ञान भी इस वेग को बांध न सका। लोक कल्याण में उमड़ी हुई शक्ति जटाजूट में रुंध न सकी। गंगा ने भारतीय जीवन का संभार अपने उपर ले लिया। यज्ञ,तप,त्याग,दान, उपासना, भक्ति, सेवा, व्रत, योगक्षेम इन सबके लिए गंगातट ही मंगल आधान बन गया। गंगा के कल्लोल में भारतीयों की अन्तरात्मा मुखरित हो उठी। गंगा के जल में भारतीय मनीषियों की सत्यानुसन्धित्सा लहरा उठी। गंगा की बालू में धरती का तेज चमक उठा। गंगा धीरे-धीरे प्रत्येक नदी की पर्याय बन गयी और प्रत्येक जीवन की अंतिम लक्ष्य बन गयी। हस्तिनापुर कान्यकुब्ज और पाटलीपुत्र का इतिहास गंगा के ही द्वारा जुड़ा। 'गंगा या घोष' से वस्तुत: जो लक्षित होता है वह मात्र गंगा या गंगातीर पर छायी हुई भोपड़ी नहीं है, वह एक महान, प्राणवान गतिमान और विश्वासमान जाति की चरम उपलब्धि है। 'रेवा से रीवां'[7] शीर्षक निबंधानुसार रीवां और रेवा में कोसों का व्यवधान है। नर्मदा की संस्कृति के विकास का दूसरा खण्ड है रीवां, नर्मदा के हुलास का दूसरा जन्म है रीवां। उसके अनन्त विरह के आवेग का अनेक प्रपातों में सिर धुनने का दूसरा क्षण है रीवां। विस्मृति से बढ़कर मनुष्य को समय ने कोई मलहम नहीं दिया और यह विस्मृति जितना ही अधिक आत्मा को अभिव्याप्त करके होती है उसी अनुपात में मनुष्य सच्चे आनन्द को प्राप्त करता है। विन्ध्य का निवास या शाप भ्रष्ट पक्ष की भांति दुर्दिन का प्रयास इन आत्मविस्मृति के क्षणों को पाकर ही समय -समय पर कृतकार्य होता रहा है। हिमालय की छाया में रहनेवाले

उसकी गुरुता से और उसकी शुभ्र उज्ज्वलता से ऊब जाते हैं । नियागरा के नीचे काम करनेवाले मजदूर उस प्रचण्ड जलशक्ति के उद्दाम वेग के प्रति बहरे हो जाते हैं, जैसे मनुष्य का आनंद विस्मय में संचित हो और पीड़ा उस विस्मय के उद्घाटन में । मनुष्य जब अपने कार्यों के भार से दबकर मुर्दा सने सा हो जाता है तब उस शव में प्राण फूंकनेवाली जो शक्ति है, उसी का नाम प्रकृति है, जिसका पतन भी मनुष्य का उत्थान कराता है । हमारे देश की संस्कृति नदियों की धारा से बनी है, इसीलिये वह नदी की धारा की ही भांति शाश्वत, प्रवाहमान और सदैव एक महान सत्य के पीछे अनुधावनशील तथा सदैव नये-नये कूलों के लिये अपने रससिंचन से दानशील रही है । आज की हमारी उद्योगशक्ति भी नदियों के जीवन पर आधारित है । चांद जो शायद शुक्ल पक्ष की सप्तमी का चांद था अब भागना चाहता है । चन्द्रमा की चांदनी छत पर, खेत में, प्रासाद में, कुटिया में सब जगह देखी है, पर जो शोभा उसकी नदी के वक्षस्थल पर है वह अन्यत्र नहीं । क्योंकि चन्द्रमा समुद्र का पुत्र है । वह भी उसी जल तत्व से बना है जिसको प्राप्त करने के लिए नदियां अहर्निश व्याकुल रहती है । यौवन के चरम आनन्द की गति से रूप पाने वाले रेवा के तलशायी नर्मदेश्वरों की अपार शिवमयी रसानुभूति और इन सबकी स्मृतियां एक-एक करके इस विहार में मन में उतर आई ।

'जमुना के तीरे-तीरे'[8] शीर्षक निबंधानुसार भारतीय संस्कृति में जमुना का स्थान बताया गया है । जमुना के किनारे बबूल की छांह मिलती है, करील के कुंज मिलते हैं और मिलते हैं कुश-परास, आगे रेती और चिलचिलाती धूप या कड़ा जाड़ा । इन्हीं के साथ मिलती है कंटीले बबूल की मीठी गन्ध, तनिक भी नशीली नहीं पर बड़ी शीतिल और हियलगी । कहीं पर पलाश की निर्गन्ध लाली, अपार्थिव तेज से लहलहायी और मिलती है कुश की नुकीली हरीतिमा । करील के कुंजों में मिलती है अन्तःसलीला सरस्वती की गूंज, गेहूं की बालियों के झुमके नहीं मिलते, मटर के फूलों की नकबेसर नहीं मिलती । दूसरे किनारे पर मिलता है दो आबा गंगा यमुना का अन्तर्वेद । जिसमें-

छतियाफार अनाज उपजें, जिसमें अमराइयों की लहक से वायु पुलकित हो जायें। जमुना की कलकल ध्वनि बराबर कुछ देर के बाद अपने आप खो जाती रही है। चिन्तन के ऐसे उलझे क्षणों के बाद क्लान्ति और विवशता के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा है। पर यह रेतीली सरस्वती का विश्राम बहुत बड़ा अभिशाप है। प्रगति का यह धीमापन उस रेतमयी की प्रसादी है, कुछ रेगिस्तानी बालुओं में से भी ऐसा लुभावना मधुर संगीत कभी-कभी निकला करता है। कर्मपथ में सबसे अधिक भय मनुष्य को अपने ज्ञान से है। ज्ञान से बढ़कर कोई भ्रामक तत्व इस पथ पर है ही नहीं। बुद्धिवादी युग स्वयं विमूढ़प्राय हो गया है। उसके पैरों में अपनी ही बनायी बेड़ी लग गयी है। कलाबाजी करनेवाले सवार पीछे रह जा रहे हैं। जो बचा बचा के अपनी नाव आगे की ओर निकालना चाहता है वह पीछे रह जाता है और जो दूसरों को ढकेलते छकियाते हुए किसी नाव के डूबने की परवाह न करते हुए अपनी बिजली डेंगी चीरता चला जाता है वही नौका दौड़ में विजयपदक प्राप्त कर रहा है। स्वयं मानव जातियों में ही जो जाति जितनी ही मशीन चतुराई में अभ्यस्त रही है, वह उतनी ही आगे बढ़ती गई है। यमुना और यमराज में भाई-बहन का नाता है। शुभ अशुभ और विधिनिषेध की धपधप इसीलिए इस धारा में एक क्षण भी बन्द नहीं होती। उस धारा में एक बार आदमी उतर जाय तो बस हाथपांव हिलाने की जरूरत नहीं रह जाती। शुभ-अशुभ का बोध नहीं रह जाता। सब कुछ इस धारा में समर्पित हो जाता है इसमें उतरना कठिन है जो अपने प्राणों का मोह छोड़कर ऊंचे कगार से कूद जाने का बस एक बार साहस कर सके उसी की वह धार है।

'कला के पलने के पास'[६] शीर्षक के निबंध में विन्ध्यप्रदेश के एक गांव का वर्णन किया गया है। गांव की स्थिति और मानवजीवन को भी चित्रित किया गया है। जनजातियों का वर्णन भी यहां पर है। विन्ध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में कला समृद्धि और वन-सम्पत्ति दोनों का प्राचुर्य है, उसी जिले में एक जगह है देवरा, जहां एक पुराना गढ़ है। इसके बीच बसा हुआ दुर्दस्युओं के आतंक के कारण उजड़ा हुआ सा गांव है।

पहाड़ की चोटी पर कुछ प्राकृतिक गुफाएं हैं जिनकी भित्तियों पर गेरु रंग की कुछ आदिम-मानव की कलाकृतियां चित्रित हैं। भारत में ऐसी अनेक जातियां मिलेंगी जिन्होंने साम्राज्य स्थापित किये, गणराज्य स्थापित किये। विदेशी सैनाओं की बाढ़ रोकी, भारतीय कला के प्रसार में सक्रिय योग दिया, पर क्रूर काल की चपेट में पड़कर वे सामाजिक स्तर में नीचे गिर गये। रजभरों, मगहिया डोमों, कञ्जडो और थारुओं का इतिहास भी बहुत कुछ ऐसा ही है। मनुष्य के उज्ज्वल संस्कार धूमिल होकर भी अपनी चमक नहीं खोते। चरवाहों और देवरा की पहाडी में बहुत ही थोड़ी दूर पर खेत थे, और उन खेतों के आसपास भी पुरानी बस्ती के अवशेष थे। इसके अतिरिक्त पलास का वन, फिर झरबेरियों के झाड़ और उसके आगे पहाड़ पर पत्थरों को ढकनेवाली कंटीली तृणराजियां, सरई, महुआ आदि। भित्ति चित्रांकित गुफाओं को यहां के निवासी पुतरियों की दांतें कहते हैं। जिसे मनुष्य ने अपने हाथों से बनाया होगा यही अनुमान है। ये गुफाएं उत्तर पाषाण युग की थीं। ये इतनी सुघड़ थी कि प्राकृतिक होते हुए भी मनुष्य के हाथों से गढ़ी जान पड़ती थीं। इस चित्रकला का उद्देश्य क्या हो सकता है ?- विश्वास यह है कि जीवन के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति के अलावा कोई अन्य उद्देश्य कला का हो ही नहीं सकता। बीसवीं सदी में भी यह बात चरितार्थ होती है। यदि कला आनन्देतर की अभिव्यक्ति की ओर बढ़ती है तो वह कलाकार की परिधि के बाहर नहीं जा पाती। इन गुफाओं के केवल नजदीक जाने पर ही पता चलता था कि वर्षा, ताप से बचाने के लिए प्रकृति ने उस समय अनिकेत मानव को कितनी बढ़िया जगह दी थी। भय को लोग मनुष्य का सहज संस्कार मानते हैं वास्तव में भय मनुष्य का अर्जित विकार है। इसे वह समाज से पाता है, एक बार इस विकार को आदमी मन से झकझोर डालें तो वह अभय हो जाता है। भय के ऊपर विजय पा सकता है यही उसका निषेधात्मक मोदा है। 'बेबिरागी गांव'[20] शीर्षक निबंधानुसार तब और आज के बीच में न जाने कितने वर्ष बीत चुके। वह बेचिरागी गांव अकेला है वैसे गांव हर जगह है और नई फसलों के लोभ में, नये यंत्रों के प्रयोग के द्वारा न जाने कितने ही गांव बेचिरागी दशा को प्राप्त होते चले जा रहे हैं। संस्कृति का

अर्थ यहां पर बताया गया है, लोग कहते हैं कि अंग्रेजी व्युत्पत्ति के अनुसार संस्कृति का अर्थ ही है खेत की कमाई । आदमी की जरूरतें बढ़ती है तो खेत का विस्तार भी बढ़ता है । लोग कहते हैं कि पुराने डीह पर बड़ा बढ़िया अन्न पैदा होता है । इसलिये अगर संस्कृति उजड़ती है तो वह दूसरी संस्कृति को बसाने के लिए । या यों कहें कि दूसरी संस्कृति की फसल अच्छी हो इसके लिए, चिराग बुझे तो क्या हुआ, बिजली तो जगमगा गई । एक बार नवीन रूपान्तर धारण करने के पहले वह विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में बिखरी जा रही है और उसके विभिन्न भंगिमाओं के चित्र उतारे जा
२५ समुद्रपार से लक्ष्मी को असुरों के चंगुल से छुड़ाकर लानेवाले
रहे हैं । वह संस्कृति जिसके स्तंभ थे इन्द्र के उपर भी विजय प्राप्त करनेवाले राघवेन्द्र राम, हल की नोंक से सीता को पैदा करनेवाले जनक, मृत्यु को जीतनेवाले भीष्मपितामह, भारत को एक इकाई में अपने कौशल से बांधनेवाले भगवान कृष्ण, और वह संस्कृति आज भी जिसका मंदिर खड़ा है, उसके द्वार पर आज भी गंगा-यमुना अंकित है क्या कोई कह सकता है वह जीवित नहीं है ? आज भारतीय मन्दिर के कोने में सौन्दर्य की अमर सृष्टियां-एक से एक उत्कृष्ट मुद्राओं से शालभंजिका बनकर कुसुम और फल का चयन कर रही है । इसके चारों ओर अब भी आयशिल उपमन्दिर के रूप में खड़े हैं किंतु यह सब होते हुए भी उसके गर्भ गृह में से प्राण ~~प्रविष्ठ~~ प्रतिष्ठित मूर्ति आज लुप्त है। हम जिस संस्कृति के मन्दिर को अभी देख रहे थे, उसमें यदि हमें मूर्ति नहीं दिखती तो यह हमारी दृष्टि का दोष है । एक साथ लाख-लाख चिराग जल उठे, कोई कोना अनालोकित नहीं रहा, देश में प्राण संचार हो गया, प्राचीनता के ध्वंस पर ही नवीनता का निर्माण हो रहा है । आज लोक संस्कृति की सीता को आधुनिकता के रंगमंच पर लाना एक बहुत बड़ा परोपकार है । लोग संस्कृति की विरासत और भारतीय कला की शानदार परंपरा का मुक्त कंठ से गान करते हैं । लोक संस्कृति के उद्धार का नारा बुलंद हो रहा है । संस्कृति के मुख से इस प्रकार की कातरयाचना सुनने मिलती है कि-'तुम जिस बेचिरागी गांव के चक्कर में पड़े हो वह मैं हूं, मुझे लोग प्राचीन कहते हैं, मृत कहते हैं, पर मैं अभी जीवित हूं, क्योंकि मेरा नाम तुम्हारे कागदों से अभी कटा नहीं । जब किसी को बुद्ध बनाना होता है तब उसके समक्ष में खड़ी कर दी

जाती हूं । मुझे देखकर वह बुद्ध बनने के लिए निकल पड़ेगा । आज की नई नवेलियां मुझसे चुहल करती हैं कि दादी । तुम यह पुरानी भारी साड़ी क्यों पहनती हो ? ये अलंकार तुम्हें क्यों प्रिय है ? यह सिन्दूर का रक्त तुम्हारे उपर क्यों सवार है ?' वे कैसे समझ सकेंगी कि मेरे उसी शरीर के द्वारा सीता ने अग्नि परीक्षा देकर अपनी शोभा चमकाया, पार्वती ने तप करके शिव को पायो? शकुन्तला ने स्नेह में भूल करके भी भरत को पाया, अशिक्षित गोपी ने हृदय की सहजता से परात्पर ब्रह्म को पाया । तुम यदि मुझे चिरागी बनाना चाहते हो तो स्वयं चिराग बनो । अपनी नि:शेष वासना अपनी निशेष पार्थिव साधना और अपना नि:शेष तेज जुटा सको तो जुटाओ । अपने सत्य को इस धरा पर खड़ा करो । अपने तप का द्रव अपनी बुद्धि के बीच में डालो । करुणा की बाती पूरो, उसे परंपरा की अंगुलियों से बीच से उकसाओ, तितिक्षा की शिखा से जलाओ, तभी यह अंधकार मिटेगा, कर सकोगे ?'[११]

'कलचुरियों की राजधानी गुर्गी'[१२] शीर्षक निबंधानुसार गुर्गी कलचुरियों की कलासाधना की उसी प्रकार रंगभूमि बनी, जिस प्रकार चन्देलों के लिए खजुराहो बना । गुर्गी की विपुल सम्पत्ति रायपुर कलचरियान की गलियों में, घर की दीवारों में, और सुविस्तृत खण्डहरों में बिखरी पड़ी हुई है । कलचुरि कला की प्रतिमा का परिचय अमरकण्टक के पुराने मंदिरों, सोहागपुर के विराटेश्वर मंदिर तथा चन्दरहे के स्थापत्य में तथा रीवां में स्थित संग्रह के शिल्प सौन्दर्य में मिल चुका था । भावों के आन्तरिक मर्म के अंकन में शायद उतनी सफलता गुर्गी की कला को नहीं मिली है । पर उसमें समन्वय अद्भुत है । इस स्थान के वैभव की स्मृति कमलों से भरा हुआ सरोवर अब भी सुनाता है । भारतीय कला का सौन्दर्य भी रंग के एक क्रमिक घुलन में, गन्ध के स्थायीत्व में, स्पर्श की असम्पृक्तता में, अन्तर्मुखीता और आनंद की साधना में है । कमल थिर जल में खिलता है, भारत की कला सुखशान्ति का सन्देश सुनाती है । गुर्गी जैसे जगहों में जाने पर ही यह पता चल सकता है कि जिसे मध्य युग कहा जाता है वह मध्य युग अपकर्ष का युग नहीं है । देश की सांस्कृतिक धारा ने जो बहुमुखी प्रगति इस मध्ययुग में की है वह

इतिहास के लिये एक गौरव की वस्तु है । हम कलाकार की साधना आज के कलाजीवियों के मानदण्ड से नापते हैं, उसके बिना सौन्दर्य एक तमाशा बन जाता है । कलचुरी शासक राजनैतिक दृष्टि से जैसे भी रहे हों पर उन्होंने जो भारत की कला परंपरा को एक नये अभिनिवेश के साथ आगे बढ़ाया है उसके लिए यह समस्त देश उनका ऋणी रहेगा ।

'भारतीय कला दृष्टि'[13] शीर्षक निबंध में भारतीय भाषा दृष्टि और भारतीय काव्य दृष्टि के मुख्य आधारों की चर्चा आवश्यक मानी गयी है । समस्त कलाओं की अधिष्ठात्री देवी एक ही है । चाहे चित्रकला हो, शिल्पकला हो, संगीत कला हो, नाट्यकला हो या काव्य । वह अधिष्ठात्री देवी सरस्वती जो सारस्वत साधना की प्रेरणास्रोत है । एक प्रकार से नाम और रूप ही सृष्टि का पर्याय है, नाम सूत्र है, रूप विस्तार है । इस नामरूपात्मक प्रपंच के साथ विभिन्न प्रकार की कलासृष्टियों को जोडते हुए भारतीय चिंतकों ने निरन्तर नामरूप के उन्मीलित होने पर बल दिया है और रूप की प्रत्येक अभिव्यक्ति में अनभिव्यक्त नाम को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त देखने का प्रयत्न किया है । भारतीय कलादृष्टि में भाषा दृष्टि की अमूर्तता के अलावा एक दूसरी चीज और है वह है योग की धारणा । भारतीय कला में सौन्दर्य की कल्पना, अंग सौष्ठव पर या व्यायाम के अभ्यास से प्राप्त अंगों के सुगठित कसाव पर बिलकुल ध्यान नहीं देती । वह जिस सौन्दर्य को अपना ध्येय बनाती है वह भीतर के अनुशासन से ही नियंत्रित है । अभिनव गुप्तपादाचार्य जैसे भारतीय विचारक कलाबोध को योग के समकक्ष मानते हुए भी योग के द्वारा प्राप्त समाधि को अनुभव से अलग मानते हैं । कला समाधि का उद्देश्य कला के अनुभव करनेवाले में समस्त अतद्रूप वस्तुओं का पूर्णरूप से विलयन होता है । इस प्रकार प्राचीन भारतीय कलासृष्टि विषय का निबंध- निषेध नहीं करती। वह विषय को विभाव के रूप में देखती है । साधारणीकरण का उल्लेख करते हुए बताया है कि साधारणीकरण के सन्दर्भ में यह भी जोड़ना आवश्यक है कि यह साधारणीकरण एक विशेष प्रकार की प्रतिभा के द्वारा सम्भव होता है । भारतीय कला की जो आधारभूत अवधारणाएं स्थापित की गयी है उनके अलावा एक चौथी

अवधारणा है तांत्रिक दृष्टि से उद्भूत अवधारणा । न केवल कला की बल्कि अन्य भारतीय विधाओं की उत्पत्ति भी शिव की ही परंपरा से मानी गयी है । सृजन शक्ति ही कला है और कला से भी उपर स्थान है स्वतंत्र मन आनन्द शक्ति का, और उसके उपर स्थान है शिव का । कला उद्भव ही समष्टि के अभिप्राय को व्यक्ति का रूप देने के लिए होता है । कला केवल इस शरीर के अन्दर ही अन्दर ऐसा रस प्रवाहित करे, जो इस शरीर के श्वासप्रश्वास को चराचर श्वासप्रश्वास से एकाकार कर सके । यही कलाकार का परम मोक्ष है । कला शव्द के कई अर्थ है चन्द्रमा के सोलहवें अंश को भी कला कहते हैं । आधुनिक युग के विचारक टामसमान के अनुसार जब तक कि कला कलाकार को यह बोध न करा सके कि वह अकिंचन है, और स्वयं भी कलासृष्टि की महिमा का साझीदार किसी भी प्रकार नहीं है, तब तक कला उंचे नहीं उठ सकती । हमारे यहां कला की स्थिति गंगा के समकक्ष है जो जीवनदायिनी है। चन्द्र कला के समकक्ष माना है जो अमावस्या के अंधकार को चीरकर शिव के भाल में उदित होता है । कला का आसन कमल है - जिसके विकास से दिन का प्रकाश होता है, और जिसके मकरन्द में ब्रह्मदेव बसता है । भारतीय कला के बाद अगर हम भारतीय संस्कृति को देखें तो भारतीय संस्कृति यानी भारत देश का कल्याण ही खेती में है । भारत देश खेती प्रधान देश है, खेती जन-जन की सम्पदा है । खेती में हर एक चीज का अलग-अलग ताव होता है, जोतने का ताव, बोने का ताव, सींचने का ताव आदि । बिना ताव के कोई काम नहीं होता। इतना ही नहीं हर एक फसल का सुतार-कुतार होता है । आद्रा नहीं बरसी, खरीफ का कुतार हो गया । मघा नहीं बरसी-अगहनी का तार बिगड़ गया, हथिया नहीं बरसी-रबी का सुतार नहीं रहा । इस खेती में प्रेम से भगवद्भजन के लिए आदमी को चार घण्टे नहीं मिलते। रमना-घूमना तो उनके लिए सपना हो जाता है जो खेती से जुड़े हैं । सबसे आछे तो बाबागिरी का धन्धा है, बाबागिरी के धन्धे में बड़ा तगड़ा कम्पटीशन है । अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं, अनेक मत स्थापित हो गये हैं । बाबा समूह का नहीं व्यक्ति का बाना है । यह बाबागिरी साइड बिजनैस बन गयी है । आजकल साहित्यिक बाबागिरी साइड़ बिजनेस बन गयी है ।

'डेरी बनाम खेती'[१४] शीर्षक निबंधानुसार डेरी की महिमा बहुत पुरानी है। क्योंकि गोरस बेचें हरि मिलें, अनाज बेचने पर तो हलधर ही मिलेंगे और बहुत रीझे तो मुसर थमा देंगे। प्रश्न यह उठेगा कि साहित्यकार खेतिहर वृत्ति अपनाकर अपनी धरती के कल्चर में लगे या गोपाल वृत्ति अपनाकर गोरस कल्चर में लगे ? खेतिहर वृत्ति निश्चय ही गंवारु है ऐसा कहा गया है। उसमें माटीपन में सनना है, नदी, बादल, सूर्य, चन्द्रमा न जाने किस-किसका मुंह जोहना है। उस पर भी यदि बीज धरती के अनुरूप न हुआ, यदि कमाई न हुई और यदि रखवाली न हुई तो खलिहान तक पहुंचने की नौबत नहीं आती। घर में अनाज आ भी जाय तो साझीदार अनेक हैं। अकेले भोग करना खेतिहर धर्म के विरुद्ध है। उसी तरह परम्परा को आगे बढ़ाने वाला साहित्य बड़े घाटे का धन्धा है। इन सबमें सरल मौज तो बस डेरी में ही है। 'प्रभुत्वज्वर अस्पताल'[१५] शीर्षक निबंध में ज्वरों की चिकित्सा के बारे में लिखा गया है। यहां संक्रामक ज्वरों की चिकित्सा की जाती है और रोग का प्रसार रोकने के लिए रोगी को विवश कर दिया जाता है। प्रभुत्व का ज्वर बहुत संक्रामक होता है और संक्रमण में वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है सहायक से अधिक ज्वर उनके चपरासी को, उनके चपरासी से अधिक तीव्र ज्वर उनके फराश को। यह एक किस्म का प्रभुत्व ज्वर है जिसकी दवा सिवाय आपके प्रभुत्व और कुछ नहीं हो सकती। हिन्दुस्तान में प्रभुत्व ज्वर बड़ी तेजी से फैल रहा है। संसार में एक ही स्थिति है। कुरसी और एक ही गति है मेज। कुरसी की सलामत और मेज पर से कागजों का हटाना, इसी मनौती में प्रभुत्व ज्वर के रोगी की उम्र सिरा जाती है। ~~अथवा~~ अर्थात् यहां पर मनुष्य के लिए कुरसी की महत्वाकांक्षा बतायी है। संसार का हर एक रास्ता सद्भावनाओं की कंकरीट की कुटाई से बना है। केवल संसार रचना ही इस ज्वर का कार्य नहीं है। इस ज्वर का रोगी एक बहुत सीमित दायरे में रहता है। वह धीरे-धीरे इस आत्म सम्मोहन का शिकार हो जाता है कि यदि सचमुच प्रभुता या अपना अस्तित्व कायम रखना है तो उसे प्रभुता में लपेटवाली भाषा भी कायम रखनी होगी। शायद जनता की भाषा में सोचने समझने की प्रवृत्ति प्रभुता के बहुत से विकारों को अपने आप समाप्त कर देती। प्रभुता का ज्वर सचमुच ही देश में

लचीलापन लानेवाला होता है । वस्तुत: नमनशीलता को स्नायु ग्रंथियों का एक विशिष्ट प्रकार का तनाव कहा गया है । रोग दो प्रकार के बताये हैं । कभी-कभी लोक सभाओं में, लोकसभाओं के शानदार भवनों में, देहाती वैद्यों की अजवाइन की धुनकी से उन्हें जब स्वेदन कराया जाता है तो बुखार कुछ हलका हो जाता है । रोग के कीटाणुओं से जब हवा के भी हवास गुम हों तो छोटी सी चन्दन की पंखी से की गई हवा भी बहुत बड़ा त्राण देती है । इस प्रभुत्व ज्वर अस्पताल के पीछे भारत की जनभावना है और इसकी सफलता के लिए हमारी शुभकामनाएं ।

'आज के भारत की सांस्कृतिक विपन्नता'[२६] शीर्षक निबंधानुसार भारत की सांस्कृतिक विपन्नता पर कुछ विचार प्रदर्शित किये गए हैं । हर एक आदमी के सामने बस एक ही ध्येय उपर से नीचे तक फैला हुआ था । कम से कम प्रयत्न से किस प्रकार अधिक से अधिक सुख-सुविधा प्राप्त की जाए यही उनकी चरम नैतिकता थी । इसके सिवा राजनीतिक रमभल्ला में कोई दूसरा मार्गदर्शक भी नहीं था । यहां पर उदाहरण दिया गया है रोम्यां रोला ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'ज्यां क्रिस्तोफ' में उन्नीसवीं शदी के अंत के फ्रांस का चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है कि उपर के लोगों की लूट मनोवृत्ति की एक खौफनाक गूंज- निचले तबक्के के और असहाय सत्ताहीन लोगों के आचरण में ध्वनित हो रही थी ।' वे लूट नहीं सकते थे तो हड़ताल, विध्वंस और कामचोरी के द्वारा राष्ट्रीय संपत्ति का विनाश कर रहे थे । फ्रांस जिस प्रकार स्वाधीनता के नशे में डूबकर सांस्कृतिक दृष्टि से विपन्नता को प्राप्त हुआ था ठीक उसी तरह हम स्वाधीनता के नशे में अर्के है । कहीं व्यक्ति हो या समाज हो, जीवन में कोई तालमेल नहीं है, कोई सामंजस्य नहीं है, कोई अन्विति नहीं है । किसी अभिप्राय की तलाश नहीं है, कहीं भी संलग्नता नहीं है, हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक विपन्नता अपने में बेमिसाल है क्योंकि वह कायरता और बहादुरी की एक दोगली सन्तान है । हमारे जीवन में दोरुखापन नितांत अर्थहीन है । हम न मन से लड़ते हैं और न मन से समर्पण ही कर पाते हैं। हम में से जो भी भारतीय संस्कृति की बात करता है वह उतना ही

भारतीय संस्कृति के प्रति भीतर-भीतर उदासीन रहता है और जो जितना ही आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि की तारीफ करता है वह उतना ही आधुनिकता की संवेदना में शून्य रहता है । हमारे देश के साथ सबसे बड़ी ट्रेजडी यह हुई कि राष्ट्रीयता की संकल्पना ही अतीत के गौरव पर हुई या फिर सुनहले भविष्य के स्वप्न पर । स्वाधीनता के बाद हिन्दुस्तानी चिन्तन के में राष्ट्र की संकल्पना का असम सामयिक आधार इतना खोखलापन ला चुका है कि आज का हिन्दुस्तान महज एक भिखमंगा रह गया है ।

'नया दौर'[२७] शीर्षक निबंध में नया दौर से मतलब हिन्दुस्तान की उस महान् रक्तहीन जनक्रान्ति से है जिसकी प्रसंशा करते-करते हमारे जन नायकों के तालू सूख जाते हैं । इस क्रान्ति के प्रति चारों ओर से उत्साह दिखलाये गये हैं । यह नया दौर बड़ा नशीला और पुअसर है । हिन्दुस्तान की आजादी इस नये दौर वालों के लिए एक ऐसी चीज है जो कभी भी पुरानी नहीं हो सकती । इस देश का साहित्यकार ऐसा विराट स्वप्नदर्शी होकर भी इन सपनों की इन नयी तानों के लिए बहरा हो गया है । साहित्यकार का सत्य यदि सत्य बना रहता है तो इस नये सत्य के प्रति समर्पण करते रहे नहीं तो इस तिनके की तरह इस बवंडर में जाने कितने किधर जा लगेगा । बी० एल० डबल्यू साहब शुद्ध हिन्दुस्तान के ग्रामस्तर का कार्यकर्ता और योजना विभाग की हिंदुस्तानी में ग्रामसेवक थे उन्होंने बताया कि जापान के तरीके की खेती गांव-गांव करा रहे हैं। २-३ गांवों में एकड़ के १००वें हिस्से पर केवल प्रदर्शन का कार्य करवाया है । गांव वालों को सबेरे उठकर डेण्टलक्रीम कैसे लगायी जाती है यह प्रदर्शन करके बतलाना सोच रहे हैं । किस ढंग से कपड़े पहने जाते हैं और कैसे प्याले तश्तरी और चायदानी-दूधदानी के बीच रंग का मेल रखा जाता है, और स्त्रियों को बिना धुंवाले चूल्हों पर कैसे रसोई बनानी चाहिए इन सब बातों को सिल लेने के लिए वे कहते हैं । हमारी परम्परा में भगवान से अधिक भक्त का महत्व बताया गया है और इस दृष्टि से ग्राम से अधिक ग्रामसेवक का महत्व होना चाहिए और यदि है तो इनकी परम्परा का ही तो निर्वाह हो रहा है।

कार्य की तत्परता भी ऐसी है कि किसी भी सूचना के लिए पिछले नक्शों के अम्बार में से ढूंढकर निकालने में जो समय लगेगा उसकी बचत के लिए फिर से नया नक्शा मांगने की आवश्यकता समझी जाती है। सो इस नये दौर के दो पहलू हैं, एक जो दर्पण के भीतर हैं दूसरा जो दर्पण के बाहर है। गांव की गतिशील निराशा दर्पण में नहीं आती और दर्पण की चंचल आशा गांव में नहीं आ पाती। नया दौर आया है उसका अभिनंदन है क्योंकि उसने नये आशाकुसुम खिलाये हैं। कल्पना और साहित्य की दृष्टि से और भी विशेष अभिनंदन है।

'हलदी दूब और दधि अच्छत'[१८] निबंध के द्वारा हल्दी से रंगी हथेली, दूब से पुलकित पूजा की थाली, अक्षत से भरा चौक और दधि से शोभित भाल थे चित्र मन में उभर आते हैं। यह ज्यादातर गांवों में मनाया जाता है किसी मांगलिक प्रसंग में। इसका शहरी जीवन से कोई मेल नहीं खाता। साठी के धान वैशाख जेठ में रोपे जाते हैं और चिलचिलाती धूप से वे जीवनरस ग्रहण करते हैं। दूब भी पशुओं के खुर से कुचली जाती है, खुरपी से छीली जाती है, पर वह प्रत्येक जीवन यात्री को वर्षा से फिसलने से बचाने के लिए पांवडे बिछाती है। वह दो खेतों की परस्पर छीना-छोरी की नाशिनी स्पर्धा को रोकने के लिए शान्ति रेखा बन जाती है। जरा सा भी मौका मिल जाय तो फैलकर मखमली फर्श बन जाती है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार तितिक्षा है जिसकी सही अर्थ में व्यंजना ही दूबा है। दूबा की नोक से जब हल्दी छिड़की जाती है तो ऐसा लगता है कि तितिक्षा के अग्रभाग से साक्षात् सौभाग्य छिड़का जा रहा हो। हल्दी दूब का यह संयोग सत्य को चिद् और आनन्द का मंगलमय परिधान देता है। हल्दी जब तक नहीं लगती तब तक खेत से श्वेत वस्त्र अपरिक्षेय ही बना रहता है। हल्दी जब तक नहीं कौमार्य अपरिणेय ही रहता है। हल्दी का दूसरा उपयोग यहां पर मातृत्व धारण करनेवाली नारी के लिए बताया है, जब मातृत्व की सफलता में नारी उतरने को होती है तब उसके नैहर से आयी हुई हल्दी रंगी पियरी और हल्दी रंगी झंगुली ही

उसके तथा उसके लाल को कुल के समक्ष प्रस्तुत करती है । इसके बाद इसका उपयोग बताया है जबकि कुमारी सुहागिन बनने को होती है तब । जिस पर हल्दी नहीं खिलती वह नारी सौन्दर्य का अभिशाप बन जाती है । हल्दी के ही गर्भ में धरती का सच्चा अनुराग तत्व छिपा रहता है । हल्दी की ही गांठ में स्नेह का अशेष हृदय से आमंत्रण बंधा रहता है । हल्दी के छूते ही मंगल की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है । जिस प्रकार शब्द से आकाश भर जाता है उसी प्रकार से अक्षत से अर्चन की थाली भर जाती है । दही उस संस्कृति की कपिला वाणी की साक्षात रसमयी प्रतिमा है । दूध से यौवन के उफटन, मक्खन से मन की एकता, और घृत से आयुष्य की लक्षणा भी बनती रहे पर इष्टता की प्राप्ति दही में होती आयी है । वह दही अपने समस्त गुणों में उस देश की सांस्कृतिक विवर्तशीलता तथा अनुग्रहणाशीलता का प्रतिमान है । सौभाग्य तितिक्षा, स्नेह तथा परिपूर्णता के लिये आग्रह रूप में उस संस्कृति की पूजा की थाली हल्दी-दूब और दधि अच्छन से सजायी जाती रही है और सजायी जाती रहेगी । मगर लोकजीवन की मंगल साधना की तन्मयता के बिना उसके हल्दी, दूध और दधि अर्थशून्य आडम्बर ही लगेंगे ।

'तुम चन्दन हम पानी'[९६] शीर्षक निबंधानुसार चन्दन का भारतीय संस्कृति में स्थान एवं महत्व प्रतिपादित किया गया है । किसी संत कवि ने गाया था - 'प्रभु जी, तुम चन्दन हम पानी' या शायद चन्दन के तिलक से उभरे हुए उन गुरुजनों के व्यक्तित्वों की मन पर गहरी छाप हो । यहां पर प्रश्न यह उठता है कि जिनके प्रति अपने को अर्पित कर रहे हैं, उन्हें अपने जीवन के साथ घिसने में सार्थकता क्या है ? कभी-कभी यह ध्यान आता है कि काठ के टुकड़े की तरह सामान्यरूप से हमारे अन्तस् के कोने में पड़ा हुआ चिदंश जब तक हमारे जीवन के साथ सम्पृक्त नहीं होता, तब तक वह निर्गुण, निराभेद, निर्व्यक्त बना रहता है। ज्योंही वह इन पार्थिव शरीर के शिला खण्ड पर जीवन के छिड़काव से बार-बार रगड खाने लगता है, त्यों ही उसका गुण, उसका आमोद और चैतन्य अभिव्यक्त हो उठता है । पर जो आभागा आदमी इस चंदन

को घिसकर अपनी प्रेयसी का अंगराग बना डालता है या अपने शारीरिक ताप का साधनमात्र समझने लगता है उसका जागरित, परिस्फुरित और प्रमुदित चिदंश पुन: उसकी प्रिया की विलासश्रम बिंदुओं या उसकी ही कायिक मलिनताओं में घुलकर विलुप्त हो जाता है। भुजंगों से लिपटा हुआ चन्दन का वृक्ष ही स्वत: महान है। वह आसपास के कंकोल, निम्ब और कुटज तक को चन्दन बना डालता है। जयदेव की पंक्तियों का उदाहरण दिया गया है- माधव के विरह में राधा अंग में अलिप्त चन्दन को अधिक्षिप्त करती है और चन्द्रमा की शीतल किरणों से दु:ख पाती है। सर्पों के बांस से सम्पर्क होने के कारण मलय समीर को विष तुल्य अनुभव करने लगती है क्योंकि वह माधव के विरह में दीन है और पुष्पधन्वा के बाणों से भयभीत होकर भावना के द्वारा माधव में ही लीन होने का उपाय रच रही है। तो ऐसा समय भी आता है जब चन्दन की निन्दा होती है जब माधव अपने प्रत्यगामा अपने पारमार्थिक रूप, अपनी विश्वप्रसृत क्षमता और आदर्श से बिछुड़ जाते हैं। नर में जो नरोत्तम होना चाहता है उसे स्वभावत: नारायण-मुखी होना ही पड़ता है क्योंकि नर का अर्थ ही है अपने में सिमटा हुआ। शायद कुछ लोग 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी' कहकर मानव की क्षुद्रता और दुर्बलता को गौरव देना चाहें और कहें कि जरा सा उलट दिया, बात तो वही है। चाहे खरबूज गिरे छुरी पर या छुरी गिरे खरबूजे पर। चाहे प्रभु जी चन्दन हो और हम पानी हों चाहे हम चन्दन हों प्रभु जी पानी हों- घिसना तो अवश्यम्भावी है। वस्तुत: छोटाई बड़ाई की यह सापेक्षता किसी बाहरी वस्तु की तुलना में नहीं की गयी है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने छोटाई-बड़ाई दोनों से सचेत है। साहित्य के क्षेत्र में कई ऐसे साहित्य के सेवी मिलेंगे, जो किसी न किसी पुजारी के लिए रात-दिन चन्दन उतारते ही रहते हैं। केवल रक्तचंदन उतारनेवाला पुजारी निष्कामभाव से चन्दन नहीं घिसता, मलयज घिसा जाता है तो गन्ध जगती है पर रक्तचन्दन जब घिसा जाता है तब राग जगता है। मलयज में प्रभु की कृपा अधिक घिसती है और अपना जीवन अल्पमात्र लगता है। पर रक्तचंदन उतारने में देवी की प्रेरणा कम, अपने जीवन का रस ही अधिक लगता है। चन्दन जो भी हो किसी भी रंग में सना हो, वह हमारी विश्वभावना का ही शुष्कप्राय

खण्ड है। जिसे रक्त सिक्त करना हमारा परम कर्तव्य है।

'होईं है शिला सब चन्द्रमुखी'[20] शीर्षक निबंधानुसार बताया गया है कि राम के चरणों के स्पर्श से समस्त शिलाएं चन्द्रमुखी हो जायेंगी- यह वाक्य गोसाईं जी ने लिखा है। विश्व के समस्त सौन्दर्य की गतिशीलता पाहन के बन्धन में छटपटाती हुई रुंध गई हो और जहां की शिलामयी चन्द्रमुखियों की भंगिमाओं को देखकर सहज ही में मांसल सौन्दर्य की मोहकता बिसरायी जा सकती है। उदाहरण जैसे कि कोई महाकवि अपनी पंक्तियों में नयी कड़ी जोड़ रहा है। सत्य से बढ़कर कोई नैतिक आचरण होता नहीं। गतिशील सौन्दर्य को यदि कोई शिव कही टिका पाया है तो खुजराहो के इन ~~कला~~ कलातीर्थों में, जहां पर शिव के भाग्य में लिखी हुई कला की रेखा की सफलता दिख जाती है। प्रत्येक कला अपने परिसर और अपनी पिछली परम्परा को लेकर ही प्रस्तुत होती है। इसलिए उसके रसग्रहण के लिए भी उसके देशकाल के प्रति न केवल सहानुभूति अपेक्षित होती है, बल्कि साथ ही वह संतुलित विमलदृष्टि भी जिससे उसको आज जोड़ने में मदद मिल सके। खुजराहो के मन्दिरों का निर्माणकाल लगभग छठी -सातवीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी तक फैला हुआ है। सही बात यह है कि कला का सत्य इतना विराट होता है कि वह स्थूल बुद्धि के लिए गोचर हो नहीं सकता। यौवन के स्वस्थ उपभोग के बिना मनुष्य की जीवन साधना अधूरी है। इसे कालिदास ~~नक्ल~~ जानते थे और कालिदास जीवित है, न केवल जीवित है बल्कि शिव के भक्तों के लिए कालिदास अब भी आराध्य है क्योंकि कालिदास का यौवन शिवभक्ति में चूक नहीं बर्दाश्त कर सकता।
'संस्कृति की पाषाणी'[21] शीर्षक निबंध में सतना उतरकर यदि आप खुजराहो की ओर बढ़ेंगे तो रास्ते में आपको केन नदी मिलेगी- बड़े-बड़े पाषाण खण्डों के अन्तराल से पिघलकर बहती हुई अनुरागी चट्टानों का सात्त्विक प्रेम अपने हृदय में भरती हुई और खुजराहो के कलायात्री के मन में मध्ययुगीन संस्कृति के सुन्दरतम शिव की आकार रेखाएं खींचती हुई। इसी केन नदी के रस अवगाह में पडे हुए पत्थरों से खुजराहो के शिल्पी ने कन्दर्पेश्वर की रचना खड़ी की। विश्व का सम्मोहन सौन्दर्य अमृतत्व के लिए गतिशील बनकर आया।

विराट की कल्पना मन्दिर बनकर साकार हुई । असीम को कला की सीमाओं में बांधने का यह प्रयत्न बेजोड़ है । उस कलाकार की सिद्धि पूर्व मध्ययुग की निखिल संस्कृति की सिद्धि है । इनके पीछे एक जागरूक और सचेत प्रयत्न है । उस युग को कुछ अर्द्धपठित लोग ह्रासोन्मुख कहते हैं, उनके लिए सातवीं सदी आयी नहीं कि भारतवर्ष का ज्ञानसूर्य अस्ताचल को चला गया । दोनों दृष्टियों से उन्होंने जगत का साक्षात्कार किया था । इसका मूर्तिमान प्रमाण है खुजराहो के मंदिर स्थापत्य की रचना । कन्दर्पेश्वर मन्दिर खुजराहों की स्थापत्य कला की चरम उत्कर्ष है । खुजरहो के मन्दिर परम शिव और परम आनन्द की खोज की कहानी दूसरे माध्यम से दुहराते हैं । जो लोग यह नहीं जानते कि भारतीय संस्कृति की दृष्टि जगत के प्रतिभासिक सौन्दर्य को जगदीश्वर से अपृथक देखती है और इसीलिए वह मानुषिक प्रेम या उत्साह को निष्प्रयोजन न समझकर इनके उदात्तीकरण में ही देवशक्तियों का उदय पाती है ।

'दिये बाती का मेल'[22] शीर्षक निबंध में दिये बाती के मेल से जाने कितनी सांझों का लगाव है । यहां पर प्रेम और कर्म की बातियों के एकीकरण कई बार जुड़ी, पर बराबर गहन अन्धकार में लौ के चंचल होने पर उस पहली बाती की स्मृति ने लौ ~~मैंस~~ स्थिर कर दी । बचपन की धुंधली स्मृति ने भी दिया बाती के खेल अभी संजो रखे हैं । दीवाली जिसे हम लोग 'दिया-दियारी' कहते थे हमारा खास त्यौहार था ।दीप का सम्बंध चन्द्रमा से है । क्योंकि वह शीतल है , मन से है, क्योंकि वह ~~अनिवल-है,~~ मन अन्तर को आलोकित करनेवाला आह्लादि का प्रतिबिंब है । उसका प्रतिरूप सूर्य है जो विराट पुरुष का बाह्य नेत्र है। उसका प्रतिरूप अग्नि है, जो शिव की ~~वस~~ तीसरी आंख है । उसका सम्बंध प्राण से है क्योंकि वह प्राणवायु का अभाव नहीं स्थिरता मनाता है । दीपा का त्यौहार लक्ष्मी पूजा का त्यौहार है । दिये-बाती का राजनैतिक महत्व है, उसका विरोध है खेतिहर की हंसिया से । दीपक की लौ बैरिन है, प्रगति की और पराक्रम की, वह प्रतीक है गलित परम्परा की और व्यक्ति की कुण्ठा की । दीपक

राग ही शोषक राग है । चौंधियायी आँखें दिया-बाती देख नहीं पातीं । दिये में तप का नया तेल भरने पर बस जितना 'तपा हुआ मोम है उसे गला-डालना, यही जीवन की परम चरितार्थता है । 'दिया टिम टिमा रहा है'[२३] शीर्षक निबंधानुसार आज के दिये को टिमटिमाने का बल अगर मिला है तो उस जल विहारिणी महालक्ष्मी के आलोक की स्मृति से ही, भारत की महालक्ष्मी का स्रोत अक्षय है इसमें भी सन्देह नहीं । आज जो दिया अपना समस्त स्नेह संचित करके यथा तथा भारतीय कृषक के तन के वस्त्र को बाती बनाकर टिमटिमा रहा है वह, इसी आशा से कि अब भी महालक्ष्मी रीझ जांय, मान जांय । इस मिट्टी के दिये की टिमटिमाहट में वह शीतल ज्वाला है जो धरती के अन्धकार को पीकर रहेगी, समस्त कीटपतंगों की आहुति लेके रहेगी । देहात में आपको नहीं मिलेगी हंसती खेलती जवानी-क्योंकि धरती की लक्ष्मी रूठ गयी है । बंकिम बाबू ने यमुना की सीढ़ियों पर इसी अमा की अंधेरी रात में भारत की राजलक्ष्मी को नुपूर उतारकर चुपचाप उतरते देखा था । पर सच बात यह है कि राजलक्ष्मी के पधारने का शुभ सन्देश उनके पास पहुंचाया भी जाय तो इनके हृदय में न उतर नहीं सकता । दिया टिमटिमा रहा है स्नेह केवल- के बल पर नहीं, बाती के बल पर नहीं, किसी नयी आशा के बल पर नहीं, बल्कि उस उत्थान के बल पर जो इसे राजाराम के हाथों मिल चुकी है । आज जो दिया टिमटिमा रहा है यह उसी लक्ष्मी की स्मृति में, उसी लक्ष्मी की प्रतीक्षा में और उसी लक्ष्मी की अतृप्य लालसा में । इस दिये की लहक में सरसों के बसंती परिधान की आभा है । कोल्हू की स्थिर चरमर ध्वनि की मन्द लहरी है । कपास के फूलों की विहंस है, किचनी मिट्टी की सौंधी उत्सांस है ।

'विजयादशमी पर एक पत्र'[२४] शीर्षक निबंध में रामलीला बहुत ही शक्तिशाली माध्यम बताया गया है । सीता जन संस्कृति की पुत्री थी, अर्थात् वे खेतिहर की प्रभुता के जन्म की प्रतीक थीं । जबकि राम सामन्तीय संस्कृति द्वारा अर्थात् बुर्जुआ संस्कृति द्वारा किये गये आत्म विश्लेषण और विद्रोहात्मक चिन्तन के प्रतिबिम्ब मात्र थे । रामायण मानव इतिहास में आदिम साम्यवाद की स्थापना की कहानी है । राम तो अपने ही मन के

सत्य है जो निरन्तर असत्य से अहिंसात्मक युद्ध या सविनय सहयोग करते रहते हैं। रावण निश्चय ही हिंसा का और असत्य का प्रतीक है। उसने क्षमा की सन्तति का अपहरण किया था। राम उसे छुड़ाने गये थे। राम की रावण विजय तत्वत: हृदय-परिवर्तन की ही काव्यात्मक परिभाषा है। रावण हिंसा है, विभीषण अनुकम्पा है। मन्दोदरी दया है और मेघनाथ क्रोध है। जैसा मूर्ख से मूर्ख और गंवार से गंवार आदमी भी विजयादशमी त्यौहार मनाता है। शक्ति जब अपरूप हो जाती है तब वह काबू में नहीं रहती, वह साधक को ही खाने दौड़ती है तब केवल रामनाम का ही भरोसा बचा रहता है परन्तु रामनाम का कीर्तन तो अष्टयाम तक होता है। गांव-गांव में नये जवांकुर विजय चिन्ह के रूप में शिखा में बांधे जाते हैं वही तो राम के विजय का अनुध्यान है। रामलीला की और सब कार्रवाई पूरी हो न हो, पर पुआल का और रद्दी कागज का रावण तो फूंका जाता है। गंवार आदमी तो हक्का-बक्का होकर देख रहा है कि कहीं-कहीं राम के चित्र जलाये जा रहे हैं। कहीं-कहीं राम दशरथ को तरेर रहे हैं क्योंकि उन्होंने एक नहीं, दो नहीं, तीन विवाह किये हैं। ये राम सीता को मना रहे हैं कि तुम अयोध्या लौट चलो क्योंकि नारी का मूल्य चढ़ गया है इत्यादि प्रसंगों का यहां वर्णन है। निबंधकार के अनुसार सारा जग ही सियाराममय है। राम के जीवन के अनेक पक्ष हैं। समग्र दर्शन की क्षमता आई तुलसी में और वे भी कुछ 'अनकहा' छोड़ गये। इस 'अनकहपन' का भी विलक्षण सौन्दर्य है। इसी सौन्दर्य के कारण भारतीय जनजीवन निरन्तर इस लोकरंजन रामचरित की ओर अनायास खिंचता आया है। आज इतिहास में राम के विजय का सन्देश दूर हिन्दचीन, कम्बोज, सुमात्रा और मलय तक पहुंच चुका है और जनजीवन की पवित्रतम आराधना का विषय बन चुका है। वे केवल मनुष्य जीवन के साथ ही नहीं बल्कि प्रकृति जीवन के साथ भी सर्वदा समरस रहनेवाले सहज राम हैं। राम उस लोकजीवन के अंतमर्म हैं, बहिरावरण नहीं, वे लोक शिव के आराधक ही नहीं आराध्य भी हैं। राम न केवल कर्मयोग के ज्वलंत आदर्श हैं बल्कि वे प्रीतिकर भी हैं। शासक और विजेता राम को पाकर जनता पितृवती हुई, सनाथ हुई। राम नेता नहीं विनेता है। समस्त चराचर जगत को राम की उपस्थिति मात्र से ऐसी शीतलता और तृप्ति मिलने लगी कि राम के वैरी भी राम के शौर्य से न डरकर उनके शील और सौन्दर्य से

सिहाने लगे । एक पत्नी व्रत का मनसा-वाचा-कर्मणा आचरण करनेवाले एक मात्र आदर्श पुरुष यदि कोई है तो राम, और उन्हें पत्नी के प्रति कठोर बतलाने से बढ़कर कोई अन्याय हो ही नहीं सकता । `ताण्डवं देविभूयादमीष्टयै च हष्टयै चन:`[२५] शीर्षकानुसार भारतीय चिंतन के सर्वश्रेष्ठ फल शिव को और भारतीय कला की सबसे ऊंची उड़ान शिव का प्रलयकालीन ताण्डव चित्रित हुआ हैं । शिव के इस ताण्डव में ही इस गत्यात्मक जगत के परम मंगल की अभिव्यक्ति होती है । यहां पर भारतीय संस्कृति के अंदर आनेवाले त्योहारों में से एक और `महाशिवरात्री` का वर्णन किया गया है । अरुण तरुणों को सांत्वना और स्नेह प्रदान करने के लिए आज यह महाशिवरात्री आयी है, उनके रक्तोष्ण उबाल को गुलाब की शीतल पिचकारी में परिवर्तित करने के लिए और उनके हृदय की चीत्कार को कोकिल की काकली में परिवर्तित करने के लिए, आज इस `पर` को `अपर` बनाने ही के लिए यह महाशिवरात्री आयी हैं । प्रलयंकर शिव का ताण्डव अपनी चरम उत्कर्ष भूमि पर है उस समय का खींचा हुआ यह पार्श्वचित्र है । बार-बार गजचर्म के उपान्त नखभाग से भाल का स्पर्श होता रहता है । बार-बार इस नखाघात = से भालेन्दु क्षतविक्षत हो उठता है । अमृतद्रव पी-पीकर गले में विराज-मान भुजंग जी-जी उठते हैं उनके महाभीषण अट्टहास से त्रिभुवन कांप उठता है । कर्पूर धवल भुजाओं में लिपटे हुए, `कारे-कारे डरावने` भुजंग भुजाओं के बार-बार कसे जाने से लम्बी-लम्बी सांसे ले रहे हैं और उनके फणों की अंगद ग्रंथि जब बार-बार कसी और पिसी जाती है तब फन फूल उठते हैं । यहां शिव का `भीषण` भीषणानाम् वाला रूप अत्यन्त सजीवता के साथ अंकित हुआ हैं। आज हमारी संस्कृति का स्रोत दुबका हुआ इन्हीं चट्टानों के बीच सोया पड़ा हुआ है । शिव का तृतीय नेत्र जो सदा ध्यानावस्थित रहा करता है । आज खुला पड़ा है । जगत की मोहान्ध जड़ता की नसनस पिघला देनेवाली ज्वालाओं यह अभिनय हैं। जुगजुगाती मन्दालस ताराओं को हड़बड़ा देनेवाली यह जागृति की महाप्रेरणा है । शिव के इस भीषण ताण्डव का रसास्वाद आयातत: लेते हैं उनकी सेना के भूत-भूतनी और आनन्द विभोर होकर वे अपने असंख्य करतलों पर ताल लगाते हैं । इस शिवरात्री के महापर्व के वर्णन के बाद `होली` का समाज में महत्व` भारतीय संस्कृति में होली के स्थान का पता चलता है । `सदा आनन्द रहे एहि द्वारे मोहन खेले फाग`[२६] शीर्षक निबंध में फाग के राग ने चौगुन रंग जमा दिया, मन बहक गया । गांव में शिवरात्री से ही फाग की धून मचती थी । xxxxxxऔर

झांझ और मृदंग की गूंज से आकाश भर जाता था, भोर होते होते एक चांचर मची रहती। होली जिस रात में जलने को होती उस रात घर पर नाईन उबटन लगाती और उबटन के साथ शरीर का मैल जो छूटता उसे बटोरती जाती, मैल की यह पोटली संवत्सर की चिता में डाल दी जाती- वह चिता तो जलकर राख हो जाती, पर राख ठण्डी होने तक कुई नहीं जाती । ~~वह चिता तो जलकर राख हो~~ प्राय: दूसरे दिन की वह राख झोलियों में भरकर लोग चल पड़ते । एक संवत्सर की चिता पर दूसरे संवत्सर का बीज बोया जाता । आम्र मंजरियों का रस पी-पीकर सुरीले कण्ठ नयी-नयी तानों को बिखेरते रहे । कभी यही गांव की होली राजनैतिक चेतना जगाने की साधन बनी । समता का सन्देश पहुंचाने के लिए फाग का राग पवनदूत बना । राजनैतिक चेतना जग गयी । कलियों के बन्धन जब प्रकृति खोल देती है तो सामान्य जीवन के नीरस श्रम की श्रृंखला भी ~~इस~~ उस समय खोल देनी चाहिये इन बंधनों से मोक्ष दिलाने के लिए उन्होंने शिव को पृथ्वी के आंगन में नाचते हुए उतारा ।

'पार्थिव धर्म'[२७] निबंध में पृथ्वी का धर्म वस्तुत: क्या है । पृथ्वी का धर्म है क्षमा, जिससे उपमा बनी है । पुराणों ने अपनी पुरानी कहानी दुहरायी-पृथ्वी गौ है, दूध देना उसका धर्म है साहित्य ने संकेत दिया कि पृथ्वी का धर्म है लोगों को जोड़ना । जनश्रुतियों ने कहा कि पृथ्वी का धर्म है मही बनना । धरित्री बनना, अवनी बनना, इस प्रकार अलग-अलग मत हमने देखे। आज भी पृथ्वी की रागिनी का अमर्ष अभी नहीं मिटा, पृथ्वी के विश्वास को जो आघात लगा वह अभी नहीं भरा । पृथ्वी का धर्म यही तो है न्याय की रक्षा और अन्याय के प्रतिरोध के लिए निरन्तर संघर्ष ; सब कुछ सहकर भी अपना मस्तक ऊंचा रखने का संकल्प, यही तो पार्थिव धर्म है । जब भगवान श्रीकृष्ण ने राजसूय यज्ञ में आये हुए पाहुनों के पैर पखारे और उनकी पदधूलि अपने मस्तक पर धारण की तो उन्होंने इसी पार्थिव धर्म की वन्दना की । जब शंकराचार्य को सन्यास लेने पर भी अपने पार्थिव शरीर की जननी के शरीर को पार्थिवसात् करने के लिए लकड़ी जुटानी पड़ी तो उन्हें भी पार्थिव कर्तव्य की अवशता

स्वीकारनी पड़ी । पार्थिवेश्वर के रूप में ही भगवान शंकर की सर्वसुलभ प्रतिष्ठा हो सकती है । और पार्थिव शिव ही पारमार्थिक शिव हैं क्योंकि उसी रूप में वे जन-जन की हथेली में आते हैं । पार्थिव कल्याण को परमार्थ का पहला सोपान कहा है । पार्थिव साधना मनुष्य के ईश्वर होने की पहली शर्त बतायी है । कम से कम भारतीय साहित्य की परम्परा कभी अपार्थिव नहीं रही । 'नर नारायण'[२८] शीर्षक निबंधानुसार नर-नारायण बदरीकाश्रम के अधिष्ठात्रा हैं । आज नर मद-मूर्च्छित और नारायण नर की मूर्छा से स्तम्भित हैं । नर को नारायण के समकक्ष खड़ा करनेवाले महाभारतकार व्यास अब समासित हो गये हैं । नर को नारायण से जोडनेवाली सरस्वती आज मौनमुकलित है । नर में नारायण देखकर 'नमो नारायणाय' के द्वारा प्रणाम के उत्तर में आशीर्वचन देनेवाली परम्परा अबसुषुप्त है और नारायण की नरलीला के रस अवगाह की आनन्द-धारा आज अवरुद्ध है । अब नर चेता है उसके नारायण यदि है तो चेतन के लिए बाध्य होंगे । युग अद्वैतवादी हो गया । उसके लिए नारायण प्रतिभासिक्त सत्ता है । नारायण को बदरी से संतोष हो तो हो नर को बदरी से तृप्ति नहीं है । नर की सामूहिक साधना से बारहों महीने वसन्त के हो गये । धर्म और मोक्ष तो नारायण की कुसंगति से उसके पुरुषार्थ से बने हुए हैं । मनुष्य से कोई बड़ी चीज नहीं है । मनुष्य ऊँचे उठा है और अपने प्रयत्नों से ऊँचे उठा है उसे किसी मन्दिर की देहरी पर सिर टेकने की जरूरत नहीं रही । किसी सूर्य चन्द्र की ओर हाथ उठाकर अर्घ्य देने की जरूरत नहीं रही। जिन लोगों ने नारायण के विग्रह की विभिन्न कल्पनाएं की, उनके समक्ष नारायण के असीम विस्तार, अनन्त ऐश्वर्य, अमित गतिशीलता और अपार सौन्दर्य के बिम्ब उपस्थित थे । ये बिम्ब उन्होंने प्रकृति से और मनुष्य के कलात्मक कृतित्व से ग्रहण किये थे । इसीलिये बहुत सोच समझकर भारतवर्ष ने आराध्य देवता के रूप में नर-नारायण की जोड़ी स्वीकार की ।

श्री विद्यानिवास मिश्र जी ने साहित्यिक विषयक निबंध भी लिखे हैं -

साहित्यिक :

'प्राचीन भारतीय साहित्य की मानवीय परिकल्पना'[२९] शीर्षक निबंध में

बताया गया है कि भारत में मनुष्य सृष्टि के केन्द्र में न होकर मनुष्य और सृष्टि के बीच बिम्बानुबिम्ब भाव ही केन्द्र में रहा । भारतीय चिन्तन में मनुष्य की सामाजिक चेतना का विकास एक ही साथ दो दिशाओं में माना जाता है । एक भीतरी बिंदु से अनेक वृत्तों के विस्तार के रूप में परिवार से कुल, कुल से ग्राम, ग्राम से जनपद, जनपद से देश, देश से विश्व तक । दूसरी बाहर के जगत् के प्रभावों के और मनुष्य के पूरे - सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश के मनुष्य की भीतरी सत्ता में अन्तर्लीन होने के क्रम के रूप में । इस तरह यह विकास बरगद के विकास की तरह है । वर्णों में सबसे आदि वर्ण ब्राह्मण उच्च है । उसी प्रकार सीमित दृष्टि से देखने पर सन्यास सबसे ऊँचा है, पर शुद्ध दृष्टि से देखने पर न तो ब्राह्मण वर्ण ऊँचा है और न सन्यास आश्रम, एक अवस्था विशेष में दोनों ऊँचे हो जाते हैं, क्योंकि दोनों का दायित्व बड़ा हो जाता है । व्यक्ति के रूप में ज्ञान की साधना करनेवाला बड़ा है । व्यापार के रूप में सेवा की साधना सबसे ऊँची साधना है । मनुष्य ऋण अदा करने के लिए आदमी को अपनी उन सीमाओं को उपर उठ जाना होता है जो उसके भिन्न स्तरों का बोध कराती हैं । मनुष्य के विकास की इस परिकल्पना में मनुष्य न तो प्रकृति का विजेता होता है, न प्रकृति से विजित होता है । न वह नियामक होता है, न वह किसी नियति का शिकार होता है । वैदिक चिन्तन में देवता मनुष्य से अलग नहीं हैं। देवता मनुष्य पर उतना ही अवलम्बित हैं, जितना मनुष्य देवता पर । वैदिक देवता मंत्र निहित शक्ति के द्वारा परिमित और निर्मित होते हैं - इस प्रकार सृष्टि के शिखर पर न तो मानव है और न ही देवता । विश्व स्वयं भारतीय चिन्तन में एक केन्द्रित न होकर बहुकेन्द्रित है । भारतीय साहित्य में पश्चिमी साहित्य से ठीक विपरीत दृष्टि परिलक्षित होती है । भारतीय साहित्य में इतिहास पुरुष का स्थान महत्व नहीं रखता है महत्व रखता है भाव पुरुष का स्थान । भारतीय साहित्य में तपोवन का अभिप्राय बराबर दुहराया गया है । न केवल आश्वासन के रूप में-बल्कि निगूढ दाहात्मक तेज के अधिष्ठान के रूप में भी तपोवन की स्मृति बारबार जगायी गयी है । भारतीय पौराणिक कल्पना में भारत के अधिष्ठाता देवता के रूप में नर-नारायण की प्रतिष्ठा की गयी है ।प्राचीन

भारतीय साहित्य मनुष्य के पर देवता के अवरोह अन्योन्य प्रतिदान को बराबर प्रति-बिम्बित करता मिलेगा।

'ड्योढ़े दर्जे का नबि खातिमा'[30] शीर्षक निबंध में दूसरे दर्जे का टिकट जब उलटा-पल्टा तो देखा कि उस पर ड्योढ़ा दर्जा ही छपा है। मैं (निबंधकार) ट्रेन की ओर चल पड़ा। देखा वही ड्योढ़ेवाला पुराना डब्बा है, वही सीट है और वैसे ही मुसाफिर है। आप विश्वास मानिए इस दर्जे में बैठने में केवल एक सुख है : अपना निरालापन बचा रहता है। कोई यहां एक दूसरे की दुखती रग को नहीं छूता। सभी हवाई बातें करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और जीवन के उच्चतम आदर्शों से नीचे कोई बात नहीं करता। कलह भी होता है तो वाक् की सीमा के भीतर, हंसी भी होती है तो ओठ के भीतर। यह दर्जा क्या अब सचमुच तीसरे दर्जे की घिसान में लाठी-गठरी और आदमी का धक्कम-धक्का सहने के लिए मजबूर हो जायगा ? सिद्धान्तवादियों की क्या दशा होगी जो इस दर्जे में बैठकर विश्वभर की आलोचना किया करते थे। जो अपने बुद्धि-बल के बूते पर पहले दर्जे में बैठनेवालों को संकीर्ण और तीसरे दर्जे में बैठनेवालों को गंवार कहा करते थे। हम लोग जो सबसे असंगठित, और एक दूसरे के पृथक रहते हुए कायरता, साधनहीनता, और बुद्धिवादिता के समान स्तर पर एकत्र रहे हैं। किस प्रकार एक विशाल जीते-जागते लट्ठ बाण समूह के भीतर बचेरा पाये ? हम अपने दर्जे के प्रति वफादार नहीं हैं। हम सुविधा पाते ही अपने दर्जे को भूल जाते हैं और इसे बाबुओं का दर्जा कहने लगते हैं। शासक और शासित ये दो अलग डिब्बे हो गये। पहले तो यह था कि कभी ससुर तीसरे दर्जे में चलते थे तो कभी दामाद ड्योढ़े में। आज जो ससुर उपरवाले दर्जे में चलेगा तो उसका दामाद भी उसी दर्जे में चलेगा। अगर नहीं चलेगा तो वह दामाद नहीं रह पायेगा। नव वसन्त में नये बन्दीजनों की कूक पर नये-नये गुल खिलने वाले हैं। उस समय की बात सोचकर मैं (निबंधकार) चिंतित हूं कि इस ड्योढ़े दर्जे के दिवास्वप्निल यात्रियों का क्या होगा ? पहले दर्जे की ओर ये संतृष्ण नयन और बुद्धिजीवी जो, लालसा की प्रतिहिंसा में अभिजात, शोषक, सुविधाप्राप्त, पूंजीपति, सत्ताधीश आदि के प्रति गालियों की बौछार करते हैं और शोषित, उत्पीड़ित, निर्धन

के प्रति करुणा के उमड़ाव में अपनी जलन बुझाते रहते हैं कहां जायेंगे ? अंकगणित के हिसाब से दूसरे का बाप पहला था और तीसरे का ड्योढ़ा पर - ड्योढ़े का बाप तो केवल हवाई जहाज की यात्रा हो सकती थी । अब तो तीसरा दर्जा भी बिना बाप का हो गया और हवाई शेर का दर्जा भी बिना पूत का रह गया । "गऊचोरी"[31] शीर्षक निबंध से गऊ चुरानेवाला गोरक्षक होता है । " "गऊचोरी" व्यवसाय के कई रूप हैं । इस गऊचोरी का विकसित रूप है भूमिचोरी । इस कागजी चोरी में भी पांच हिस्सेदार होते रहते हैं । सोने की चिड़िया को हलाल करने के लिए अंग्रेजों ने पटवारी प्रथा चलायी । हमारे यहां पृथ्वी की उपमा सदा गऊ से दी गई है । सो गऊ जितना अपने चोर से कांपती होगी उससे अधिक पृथ्वी अपने इस पटवारी से कांपती है । गऊ जब चोरी जाती है तो उसे भरपेट घास नहीं मिलती । दुर्बल राष्ट्र का संरक्षण अपने हाथ में ले लिया जाय तो दुर्बल भी न हो, उसे किसी भेदभाव से दुर्बल बनाकर अपना संरक्षित बनने के लिए बाध्य कर दिया जाय यही राजनीति का परम लक्ष्य है । गऊचोरी की एक और जाति है साहित्यचोरी । सो इस गौ के पीछे चोर पड़ गये हैं । हां साहित्यिक गऊचोरी को सभ्य संसार बड़ी आदर दृष्टि से देखता है । जो जितना ही चोरी करता है वह उतना ही पंडित और विद्वान समझा जाता है । बिना इस चोरी की कला में प्रवीण या पारंगत हुए किसी साहित्यकार को तत्कालीन इतिहास में स्थान नहीं मिलता । यहां चोरों ने ही साहुओं के लिए पादों का कटघरा तैयार कर दिया है और चोर ही बराबर कोतवाल को डांटते रहते हैं। इसीलिए दिन अनुदिन क्षण-प्रतिक्षण इस गऊचोरी का व्यवसाय फूलता-फालता चला जा रहा है । रोकथाम करने का कोई साहस नहीं कर रहा है । एक और गऊ है आंख या इन्द्रिय, इसकी चोरी युगों युगों से होती आयी है । चोरी का टैकनीक भर बदलता रहा है । इस आंख की गऊचोरी का व्यवसाय करनेवाले दुनिया की भाषा में चितचोर कहे जाते हैं । सबसे दर्दनाक चोरी यही है इसमें कोई सन्देह नहीं । सभी को चोर लायक चित नहीं मिलता । सभी को चितचोर नहीं मिलते । इसके आगे की और गऊचारियों को मूर्ख लोगों के लिए छोड़ दिया जाता है, पर यह अंतिम चोरी

सिद्ध चोरी है उसके लिए देवी-देवता पूजना चाहिये । जैसे राधा कृष्ण-राधा का नाम पहले इसीलिए कि पहले कृष्ण की आराधिका बन, धीरे-धीरे उन्होंने चोरों के अगुआ इन महापुरुष का भी चित्त चुरा लिया । कृष्ण तो जन्म से ही चोर थे- नाम ही ठहरा कृष्ण । ब्रज की भूमि ही चोरी की भूमि है । 'ये विपथगायें' शीर्षक निबंधानुसार मनुष्य की विचार शक्तियों पर प्रकाश डाला गया है । नदियां जब अपना पथ बदलती है तो कुलों का संहार कर डालती हैं और नदियों से भी अधिक तेज धारवाली विचार शक्तियां जब अपना पथ छोड़ देती है तब उनके पीछे चलनेवाली मानवता दिङ्मूढ़ हो जाती हैं, और युग का विध्वंस हो जाता है । देखा जाए तो एक नहीं अनेक विपथगाएं साहित्य के क्षेत्र में मिलेगी । स्वतंत्रता के ध्येय ने उन्हें एकोन्मुख रखा था, और ध्येय प्राप्ति के अनन्तर ही उनके पथ स्वतंत्रता के फलभोक्ताओं के अनुचर बन गये । चारण समय आ पड़ने पर हाथ में तलवार खींच कर रणकौशल भी दिखला देता था पर, नये युग के, ये नये चारण केवल वाक् कौशल दिखला सकते हैं । हाथ से, पैर से, मन से और आत्मा से ये नितान्त पंगु हैं । चांदी के टुकड़ों पर और सम्मान की चमक पर अपने को बेचनेवाले हर युग में रहे होंगे, पर उन्हें कम से कम अपने को स्वाधीन कहने का दम्भ न रहा होगा । आज तो जो बिक गये वे भी यह दंभ रखते हैं कि हम स्वतंत्र चेता हैं और हमी पथदृष्टा हैं । आप प्रशस्ति लिखेंगे नेहरू की या विनोबा की और प्रशस्ति करते समय निखिल मानवता को इन से दूर कर देंगे इसीलिए नहीं कि सचमुच ही आपके हृदय में नेहरू या विनोबा की राजनीति के हाथों बिक चुका है । आप जिस ओस को पानी समझते हैं उसी को हम पानी मानने को विवश हैं । इसीलिए हे विपथ जाओ- तुम जाओ। राजस्थान की मरुमरीचिका में खो जाओ, लुप्त हो जाओ, हमें कुछ भी दु:ख न होगा। आज जो मनुष्य को आधे रास्ते में छोड़ दिया गया है अपने पथ निर्देशकों के द्वारा वह दम्भ करने के लिए नहीं-उसको त्यागकर चले जानेवालों को ललकार देने के लिए भी नहीं, हम बचे हैं अपने साहित्यकार को अशेष प्राण बल से चुनौती देने के लिए । साहित्य, लोकगीत, कला ये सब बहुत ही शक्तिशाली माध्यम है । हम केवल अपनी अनवरत साधना से,

सत्यानुसन्धित्सा से और अपनी निष्ठा तथा जीवनरस के मुक्तदान से यह सिद्ध कर सकते हैं कि जिसको तुम सशक्त माध्यम कहते हो, यह शक्त इसीलिए है कि निर्बन्ध है। विपथगाएं हमारा पथ नहीं छोड़ सकती।

'स्वाधीनता के कटघरे में हिन्दी'[32] शीर्षक निबंधानुसार हिन्दी भाषा के महत्व को समझाया है। लेखक के मतानुसार साधारण हिंदीभाषी चाहे साक्षर हो या निराक्षर, आज एक भाषाविहीन व्यक्ति बन गया है। क्योंकि जिस भाषा में वह सांस लेता रहा है वह भाषा स्वाधीनता के बाद न तो स्वाधीनता की भाषा है, न देश की एकता की, और न व्यक्ति की प्रतिष्ठा की। विचारों के पक्के होते हुए भी राहुल जी इस भाषा के प्रश्न पर कम्युनिस्ट पार्टी से निष्कासित हुए थे। और आज उर्दू के उठाये गये नए आन्दोलनों को राष्ट्रीय एकता का आन्दोलन कहा जा रहा है। स्वाधीनता को तो दोष नहीं दिया जा सकता। पर स्वाधीनता लानेवाले कारणों को दोष दिया जा सकता है जिसमें प्रमुख कारण है हिन्दी- हिन्दी को समाजवादी उच्छृंखलता के लिये जिम्मेदार बताया गया है, दूसरा-प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादिता के लिये जिम्मेदार बताया ~~गया~~ है, इसे किसी पर आक्रोश नहीं, न उस विदेशी शासन के रावण पर है जिसने इसे पददलित किया, न उस देवर पर जिसने निष्कासन का रथ हांका। पर अब तो यह वनवास भोग ही रही है। उर्दू के एक शायर ने हिन्दीप्रदेश के रोगों का गहरा अभ्यास किया है और कुछ तात्कालिक औषध भी सुझाये हैं। शायर श्री फिराक साहब आज की हिन्दी को नकली हिन्दी कहते हैं क्योंकि इसमें संस्कृत के शब्द है, जनभाषा के शब्द नहीं, और इसमें उर्दू और अंग्रेजी शब्द का बहिष्कार किया गया है। यह हिन्दी मदनमोहन मालवीय, जवाहरलाल नेहरू, श्रद्धानन्द और डा० भगवानदास जैसे महापुरुषों को जन्म देने में असमर्थ है। इसने लोगों को बौना बना दिया है। हिन्दी साहित्य की परंपरा के बारे में यह कहना कि वह बंधी हुई परम्परा है। हिंदी केवल शहर के गली-कूचों की भाषा नहीं है। घुटने मरे और घुटने टेक राज-दरबारों की भाषा नहीं है, वह भाषा है गांव देहात के मुक्त गगन की, आंधी-पानी की, धूप की

और नदी के सीधे बहाव की । हिन्दी साहित्य के शक्ति शाली स्वर ने रूढ़ियों का और जीवन विरोधी शक्तियों का हमेशा खण्डन किया है । कबीर और तुलसी की भाषा का सहज संस्कार हिन्दी साहित्यकारों के नैतिक साहस से आया है । हिन्दी ने इस्लाम से प्रभाव ग्रहण किया, वह प्रभाव अलमस्तों फकीरों के माध्यम से आया । हिन्दी ने पश्चिम से भी प्रभाव ग्रहण किया । हिन्दी भाषा वह एक खुला मैदान है जिसमें प्रभावमुक्त भाव अपने आप आते हैं । राजभाषा होने के लिए हिन्दी अब अपने को अपमानजनक शर्तों पर बेचने को तैयार नहीं है । राजभाषा का पद हिंदी के लिए बहुत छोटा पद है। संस्कृति का मापदण्ड साहित्य, कला एवं विज्ञान है तो कोई गतिरोध पैदा ही नहीं होगा । यदि वैशिष्ट्य के आधार पर ही परीक्षा करें तो जितना जागरूक और तीव्र प्रयत्न सांस्कृतिक चेतना को उद्बोधित करने के लिए हिंदी में है वह विश्व की किसी भी समृद्ध आधुनिक भाषा के समकक्ष कहा जा सकता है ।

'व्यष्टि और समष्टि' की सन्धि'[33] शीर्षक निबंधानुसार व्यष्टि को यन्त्र का अवयव मात्र न मानते हुए विवेक के प्रज्वलित स्फुलिंग के रूप में धधकाये रखने की सार्थकता समझायी गयी है । साहित्य में सत्य और विवेक के प्रति आस्था जगाने की मंत्रविधि भी आलेख में बतायी गयी है । इस आलेख का अभिप्राय समझने की कोशिश की गयी । किसी ने कहा 'मैनिफेस्टो' अर्थात् संयुक्त घोषणा पत्र है, जो विचारों के पंक्ति बंधन से बचने के आवाहन के रूप में तैयार किया गया है । किसी ने कहा निराशा से बचने के आवाहन के रूप में, किसी ने निराशा से उबरने के लिए मानसिक संघर्ष का यह नया सम्बल है ऐसा भी कहा, तो किसी ने अन्धकार में पथ ढूंढने का यह एक ओजस्वी प्रयत्न माना है । दूसरा आलेख है जिसमें विरह का बनजारा कलाकार क्रूर नियति को कोसकर रह गया था । वह आलेख विरह का उत्कृष्टतम अंकन है और अप्रतिम भावचित्र भी माना जाता है । इस आलेख में जो कलाकार के चैतन्य को प्रतिबोधित करने तथा उस चैतन्य को चिदात्मिका शक्ति में परिस्फुरित करने का जो प्रयत्न है, उसमें निबंधकार बड़ा आश्वासन पाता है । साहित्य का प्रयोजन केवल 'शिवेतर क्षति' तक ही

सीमित नहीं है, वह सद्यपरिनिवृतये तक पहुंचाने का दावा करता है । उस आलेख का उद्घोष उस अस्तित्ववाद की परिकल्पना का अंचल थामे रहता है । वह व्यष्टि तथा समष्टि की सन्धि अपने से बाहर ढूंढता है। अपने में पाने की कोशिश नहीं करता । दर्शन तथा धर्म-साहित्य के घर आकर पानी भरते हैं, इसीलिए नहीं कि ऊंची-ऊंची बातें करता है या नये सम्प्रदाय में दीक्षित करता है, बल्कि इसीलिए कि वह ऐसा लोकोत्तर आनंद देता है कि जिससे समस्त सीमाएं पिगलित हो जाती है,समस्त मर्यादाएं विलीन हो जाती है । साहित्य के स्वातन्त्र्य का स्वरूप तो आनन्दोसिक्त होना चाहिए वह आनन्द बाहर तो नहीं ही मिलेगा - वह भीतर है । सांस्कृतिक अन्तर्धारा में प्रवहमान है । अभिनवगुप्त ने अपरोक्षानुभूति से काव्यानुभूति को उपर रखा है और लगता है इस आलेख का उद्देश्य सद् है किंतु यह अधूरा है । 'कला शक्ति और शिव'[34] शीर्षक निबंधानुसार कला- का जो ~~कला~~ व्यापक अर्थ है वह शिव और शक्ति की साधना से ही निकला है न केवल कला बल्कि अन्य भारतीय विधाओं की उत्पत्ति भी शिव की ही परंपरा से मानी गई है । अहं या व्यक्तित्व अपनी सीमाओं में कला के व्यक्तित्व को ग्रहण मात्र करता है किंतु कला की रचना प्रक्रिया में उसका कोई हाथ नहीं होता । वह व्यक्तित्व कलाकार जब अपनी रचना पूर्ण कर चुकता है तब जाकर अपने में स्वतंत्र की पहचान कर पाता है । भारत की सृजनात्मक प्रतिभा के लिए जगत् वस्तुरूप नहीं है बल्कि आत्मा वस्तुरूप है । अर्थात् सृजन शक्ति ही कला है । रसवाद के प्रवर्तक अभिनवगुप्त ने जो प्रतिभा की परिभाषा दी है वह भी कला, शक्ति और शिव को एकसूत्र में बांधती है । यह नहीं कि पाश्चात्य कला में शिव की परजन हित की बात या मानव कल्याण की बात सन्निहित न हो । पाश्चात्य कला जब अपने उत्कर्ष पर होती है तब अपने को किसी महान् प्रयोजन के लिए अर्पित कर देने के लिए उसमें छटपटाहट सी होने लगती है । कला व्यष्टि और समष्टि को जोड़नेवाली सन्धिरेखा है । आनन्द ही ब्रह्म का रूप है और वह मनुष्य की देह में अवस्थित है । मनुष्य उसको नए सिरे से नहीं प्राप्त करता। हमारे यहां जो प्रश्न- परम पुरुषार्थ है वह यही आत्म स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान है । हम आगे कला के बारे में बहुत कुछ लिख चुके हैं। कला, शक्ति और शिव के परस्पर

सम्बंध को लेकर नयी काव्यमय कल्पनाएं, नये प्रतीक और नये ध्यान हमारे यहां बने हैं। कला पर प्रकाश डालते हुए निबंधकार कहते हैं कि कला बांकी होती है और भौतिक दृष्टि से प्राय: अदृश्य होती है। कला समय का भी एक माप है, कला के बारे में आधुनिक युग के एक बहुत बड़े विचारक टामसमान का अभिमत जानना जरूरी है। अपने 'द आर्टिस्ट एण्ड सोसाइटी' शीर्षक निबंध में वह स्वीकार किया है कि 'कला शक्ति नहीं है, वह केवल, एक राहत है, वह जीवन की गंभीरता का खेल खेलती है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए मनुष्य के शाश्वत प्रयत्न को आकार देती है।' किसी कलाकृति का हो सकता है कि कोई प्रभाव न हो पर कलाकार में नैतिक प्रयोजन की मांग करना उसके कलाधर्म को ही चौपट करना है।'[३५] गेटे का कहने का अभिप्राय केवल यही है कि कलाकार की एक मर्यादा होती है, वह मर्यादा है विनम्रता की। हमारे यहां कला की स्थिति गंगा के समकक्ष है, जो जीवनदायिनी है और सतत प्रवहमान है वह चन्द्रकला के समकक्ष है।

'तान्त्रिक कला की साध्य भूमि'[३६] शीर्षक निबंधानुसार जीवन में प्रत्येक पहलू का एक निश्चित मान, भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में एक साथ सन्निहित माना गया है। मानव शरीर को साधन क्षेत्र मानकर और मानव जीवन की लीला को साधन की अभिव्यक्ति मानकर समस्त दर्शन, साहित्य और कलाएं प्रयोजित हैं। तांत्रिक कला में ही भारतीय कला ने अपनी पराकाष्ठा पायी है, तांत्रिक कला ने भी अपना उत्कर्ष खुजराहो में पाया। स्थूल कायिक आनन्द की जितनी प्रकार की उत्कर्ष-भूमियां हो सकती हैं उन सभी में सूक्ष्म अशरीरी और परम आनन्द की अभिव्यक्ति देखना यह तान्त्रिक कला का स्वप्न है। उदाहरण स्वरूप खुजराहो के एक-एक अभिप्राय को ले पहले मन्दिर की स्थापत्य रचना पर ही विचार किया है। कमल को प्रत्येक उठान का आधार मानने में योग दर्शन का प्रभाव है। शिव आज भी देहातों में नृत्य और गीत के देवता हैं। शिवरात्री का पर्व आज भी नृत्यगीतों के उल्लास का पर्व है। गीत नृत्य का क्षण मानव के निर्बन्ध आनन्द के क्षण होते हैं। वह

आनन्द व्यष्टिगत नहीं होता-समष्टिगत होता है । दूसरा अभिप्राय जो कि पार्श्वों और कोनों में अंकित किया गया है, वह दर्पण लिये अप्सरा का चित्रांकन है । तीसरा अभिप्राय वंशीवादिका का है और इसमें त्रिभंगी रूप ही अंकित किया गया है । वंशी सघन भावना की द्रुति का प्रतीक है और इसीलिये वंशीवादन के अंकन में जो मोहक मुख बनाया गया है वह अनुपात में शरीर के विशेष भागों से काफी बड़ा हो गया है । चौथा अभिप्राय जिसमें सौन्दर्य से अंगड़ाई लेने का अंकन किया गया है । इन अंकनों में अंगों के मोड़ों पर जहां एक ओर अतिशय यथार्थता से काम लिया गया है, वहां भावों की अभिव्यंजना में बहुत सूक्ष्मता बरती गई है । पांचवें में परस्पर एक दूसरे के साथ आलम्बन लिये हुए मिथुन का है । तन्त्र की बात उठते ही यह बताना होगा कि वह भी एक मार्ग है । दाहिना न होकर बांया हो । भारत की धार्मिक आस्था को उससे कई जीवित प्रेरणाएं मिली हैं, जिसे निसंवेग और निर्भय कहा जाता है वह तांत्रिक साधना की ही देन है । तान्त्रिक कला की साध्य भूमि भी वही है, जहां साधक की तन्मयता है और इस साध्यभूमि को ध्यान में रखे बिना तांत्रिक कला में निचले स्तर का मनोरंजन या उद्दीपन जोड़ना उसके कलाकार के साथ बहुत बड़ा अन्याय होगा । `मेघदूत का सन्देश`[३६] शीर्षक निबंध कालिदास का काव्य मेघदूत पर लिखा गया है । `मेघदूत` को भारत का राष्ट्रीय काव्य ~~मेघदूत-पर-लिखा~~ कहा गया है । वह समूचे राष्ट्र की भौगोलिक और सांस्कृतिक चेतना की पुंजीभूत राशि है । जिसमें प्रत्येक युग में प्रत्येक भारतीय हृदय अपने स्निग्धतम क्षण का प्रतिबिंब पा सकता है, अपने जीवन की चरम उपलब्धि देख सकता है । मेघदूत में न केवल विन्ध्य और हिमालय के एकीकरण के सरल प्रयत्न हैं बल्कि ऐहिक प्रेमसाधना और पारमार्थिक भक्ति के बीच तादात्म्य स्थापित करने की सिद्धि भी है । विरह काव्य होते हुए मंगल की सृष्टि ही मुख्य लक्ष्य है । इसे समझने के लिए बड़े विशाल हृदय की जरूरत है। वह न केवल शापप्रवासी यक्ष की विरह कल्पना बल्कि भारत के आराध्य दैवत द्वारा, प्रत्येक युग के आत्मविश्लेषक की बेला में भेजा गया आश्वासन भरा, ममताभरा, मंगलभरा मधुर सन्देश है । इसकी समस्त काव्य योजना राष्ट्रीयता की एक महान परिभाषा के निर्माण में विनियोजित हुई है । जो इतिहास,संस्कृत,भूगोल,

जनजीवन और प्रकृति की सभी सीमाओं और क्षितिज रेखाओं की सम्मिलन भूमि का निर्माण करती हुई, राष्ट्र के प्रत्येक अवयव और कण के साथ हृदय का साक्षात्कार करा देती है। राष्ट्रीयता का समग्र रूप में दर्शन अकेले किसी ग्रन्थ में है- तो वह मेघदूत में है। मेघदूत के समूचे कथा प्रवाह में शिव की अर्चना में प्रमाद है और उस प्रमाद के अनुताप का ही एक परिशोध है - मेघ द्वारा सन्देश वाहन। और यह काव्य अत्यन्त असंलक्ष्य रूप से लौकिक और आध्यात्मिक दोनों भूमिकाओं को एक साथ लेकर चलता है। संस्कृत का समग्र साहित्य लोक का साहित्य है। उसका प्रत्येक लौकिक आनन्द परमानन्द का प्रतिबिंब या आभास मात्र न रहकर स्वयं परमानन्द के उद्भासित क्षण के रूप में देखा जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल में भारतवर्ष के प्रथम सिंह पराक्रमी चक्रवर्ती भरत की उद्भवभूमि शकुन्तला की शक्ति का एक और परिचय दिया गया है- तो दूसरी और शिव की अष्ट मूर्ति का ध्यान किया गया है। मेघदूत में कवि ने एक साथ उन्माद से जनित प्रमाद के परिताप, और उस परिताप के लिए धरती की संतान सीता के स्नान से पवित्रीकृत जल के स्पर्श, तथा राम के वनवास की स्मृति से शीतल छाया में निवृत्ति जो झांकी है, वह केवल इसलिए कि मनुष्य की दुर्बलता मंगलकामना के लिए अनउर्वर न समझा जाय। आज के रीतेपन को उस गौरव की पूर्णता से ही भरा जा सकता है जो कालिदास के काव्यों में से झलक रही है। मेघदूत का सन्देश बहुत पुराना है, पर प्रत्येक युग में वह वैसा ही नया और वैसा ही स्फूर्तिदायक है। इसका कारण सन्देश देनेवाली साधना है। या उस युग के पूर्ण पुरुष विक्रम की परछाईं है।

'बनजारा मन'[37] शीर्षक निबंध में 'ग्राम्या' पुस्तक की संपादकी होने जा रही है। निबंधकार कहते हैं कि वसन्तपंचमी आ भी जाये तो मेरी सरस्वती के आने की उम्मीद नहीं है, सरस्वती के मन्दिर में पहुंचकर भी साक्षात् विद्या की आराधना करते हुए भी बिकुड़न भोगे रहना, यह पानी में रहकर प्यासे कुम्हला रहने के बराबर है। इस तरह यह ज्ञान की साधना को भी एक अजीब तमाशा कहा गया है। अध्यापन में प्रतिष्ठा तभी मिलेगी जब रिसर्च की डिग्री पूंछ में लगी हो। अध्यापन का कार्य नये सत्यों

की शोध नहीं, नये दर्पणों में बिम्ब प्रतिक्षेप भी नहीं, नयी पीढ़ी का अभिनन्दन भी नहीं, यह मृत सत्यों के मजार पर धूप दीप की बलि है। इस तरह अध्यापन और सर्जन दोनों विरोधी स्थितियां हैं। यहां पर नूतनता से प्रीति नहीं निभ सकती। प्रतिग्राहीता का विनय नहीं चल सकता, प्राप्ति की आशा नहीं पल सकती। यहां पर जीवन नदियों से नहीं, नहरों से आता है, कूपों से आता है। अध्यापक को पुरस्कार नहीं, पद और मान मर्यादा की भी नहीं तथा एक्रिम सुख के साधन के लिए भी दरकार नहीं होनी चाहिये। अध्यापक के मन का बनजारापन छूटकर भी नहीं छूटता, यहां पर अध्यापक को बनजारा बताया गया है। उनके स्वभाव में नख में लगे पावस की मेंहदी के रंग की तरह लिखने की आदत जुड़ी हुई है। निबंधकार कहते हैं कि समस्त देश की सरस्वती वसन्त के आगमनसे सामंजस्य नहीं रख पा रही है तो फिर नये वसन्त को, नयी लहर को कैसे दोष दें ? 'कर्मयोग शास्त्र'[३८] निबंधानुसार श्रीमद्भागवत्गीता जिसे ब्रह्मविद्या, कर्मयोग शास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद और उपनिषद एक साथ कहते हैं। गीता की पृष्ठभूमि लगभग वही थी जो तिलक युग और देश की पृष्ठभूमि थी। तिलक के युग का नर भी, अर्जुन की भांति नारायण में पूर्ण विश्वास न रखने के कारण भयभीत, मोहित और मिथ्याभिमान से ग्रस्त था। तिलक की विशेषता यही है कि उ उन्होंने गीता का अर्थ गीता के बाहर जाकर नहीं बल्कि गीता के ही द्वारा संगति बिठलाते हुए गीता को समझाने का प्रयत्न किया है। अक्षरों का परिचय कराने के लिए जिस प्रकार छोटे-छोटे कंकड़ रखकर अक्षरों का आकार दिखलाना पड़ता है उसी प्रकार नित्य शुद्ध बुद्ध परब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये लकड़ी मिट्टी या पत्थर की मूर्ति का उपयोग किया जाता है। श्रद्धा भी उनकी दृष्टि में ज्ञान के लिए पर साधन है। अर्थात् भावना के द्वारा ही बुद्धि भी उपयोगी होती है। बुद्धि की शुद्धि पर बल दोनों जगह है, पर गीता में जो बुद्धि,बुद्धि के उपर उठकर ब्रह्मात्मैक्य की स्थापना की है वह ऐसी निभ्रान्त और हृदयग्राही है कि गीता जीवन के प्रत्येक संघर्ष में शंखनाद बनकर आ जाती है। जो दुःख सार्वजनिक है उसके लिए क्षोभ करना उचित नहीं। तिलक ने पश्चिमी विचारकों की सीमा देखी- वे मनुष्य को केवल एक उच्चश्रेणी का जानवर

मानते हैं। उन्होंने पश्चिम से हारे हुए त्रस्त भारतीयों को ललकारा। आत्मौपम्य दृष्टि से तथा उत्साह से। भावजीवन करते रहो, और इसके द्वारा ऐसे नित्य परमात्म देवता का सदा भजन करो। गीता रहस्य ने मेरुदण्ड विहीन भारतीय समाज को आचार की पीठिका पर पुराने मंत्रों को नये स्वर से उच्चारित करके खड़ा किया है। अर्थात् गीता का फलितार्थ आस्तिक बुद्धि से अर्पित कर्म की भावना का अभ्यस्त हो तभी कर्मयोगशास्त्र की प्रदीप्ति शिखा की ज्योति अमन्द बनी रह सकेगी और भारत कर्मभूमि बना रह सकेगा।

'संस्कृत साहित्य की पहचान'[३९] शीर्षक निबंध में संस्कृत साहित्य पर निबंधकार ने कुछ विचार प्रकट किये हैं। वस्तुत: संस्कृत नाम संस्कार केन्द्रित भारतीय जीवन का उपलक्षण है। संस्कार का अर्थ कृत्रिम प्रक्रिया नहीं बल्कि जीवन के गहन प्रयोजन की योग्यता पाने की सहज प्रक्रिया है। संस्कृत साहित्य के मूलभूत आधार को हम पांच मुख्य खण्डों में विश्लेषण करके देख सकते हैं। पहला आधार है जगत के बारे में विशिष्ट सम्पृक्त पर स्वतंत्र दृष्टि, साहित्य का जगत न तो काल्पनिक है, न वास्तविक, वह वस्तुत: अनुभाविक है। दूसरा आधार है दिक्कालीन बोध। पश्चिम साहित्य में काल की सीमा की सजगता मिलेगी और देश के वैशिष्ट्य का आग्रह। बाल्मीकि के राम और भवभूति के राम में इसीलिए विरोध नहीं है कि दोनों सत्य के निरन्तर प्रवाह में स्थित एक सत्ता है। काल के बन्धन की उपेक्षा करते हुए भी इसीलिए काल के प्रवाह की प्रखर अभिव्यंजना संस्कृत साहित्य में मिलती है। देश-सीमित बोध का भी संस्कृत साहित्य में अभाव है। साहित्य में प्रकृति वर्णन विलग न होकर शीर्षस्थ रहता है। पर्वत नदी से लेकर देव-किन्नर और पशु पक्षी से लेकर वनस्पति तक मनुष्य के बराबर साझीदार हैं। तीसरा आधार है पुरुषवाद। पुरुष का अर्थ मनुष्य मात्र नहीं चैतन्य से प्रवहमान पिंडमात्र है। पुरुवाद का अर्थ है लोकमन पर लोकातीत पुरुष की प्रतिष्ठा। चौथा आधार संस्कृत साहित्य की शिवदृष्टि का है। इसमें कहीं-कहीं इस दृष्टि का प्रसार निषेध मुख से शिवेतर क्षति के रूप और कहीं-कहीं

विधि मुख से लोकमंगल की दृष्टि में हुआ है । यह मानव शरीर को भी शिव का अधिष्ठान मानती है । संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य की इस आधार शिला पर ही भारतीय जीवन दृष्टि आज भी आधारित है । 'भारतीय लोक-साहित्य की पहचान' [40] निबंध में भारतीय साहित्य की भाषा परिनिष्ठित और साहित्यिक भाषा न होकर साधारण जन की भाषा है और उसकी वर्ण्य वस्तु लोक-जीवन में गृहीत चरित्रों, भावों और प्रभावों तक सीमित है । यह तो लोक साहित्य की पहली मर्यादा हुई । इसकी दूसरी मर्यादा है उसकी रचना में व्यक्ति का नहीं बल्कि समूचे समाज का समवेत योगदान । क्योंकि लोक साहित्य के उपर व्यक्ति की छाप न होकर के समस्त व्यक्ति लोक की छाप होती है इसमें शिल्प विधान के लिए कोई अभ्यास कौशल परिलक्षित नहीं हो सकता । कला शब्द का अर्थ भी जोड़ना ही है और कला जितनी ही अलक्षित रहती है उतनी ही प्रभावकारी हो पाती है इस दृष्टि से देखने से लोक साहित्य में शिल्प विधान अपने उत्कर्ष पर है क्योंकि वह सबसे अधिक यहीं पर निरभिमान, निर्व्याज और निसर्गोद्भूत है । लोक साहित्य के मुख्यत: चार भेद हैं, लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य, लोकगाथा । लोकगाथा और लोककथा में भेद-इतना ही है कि लोकगाथा एक लम्बे आख्यानगीत का रूप हैं जब कि कथा गद्यात्मक होने के साथ-साथ कथा प्रधान हुआ करती है । लोक कथाओं और लोक गाथाओं में कथा-शिल्प ही प्रमुख रहता है । लोक साहित्य में कवि समय की तरह ही अभिप्राय समझा जाता है । तीन प्रकार की पुनरावृत्ति यहां पर बतायी है । तीसरी प्रकार की पुनरावृत्ति सामाजिक और आध्यात्मिक कारणों से होती है । लोक कथानकों में आध्यात्मिक अभिप्रायों की पुनरावृत्ति सबसे अधिक मिलती है इन पुनरावृत्ति की परंपरा का स्रोत आरण्यकों और उपनिषदों में ढूंढा जा सकता है । विगत दशक के भीतर हिन्दी कथा साहित्य में लोककथा से प्रेरणा लेकर अनेक सफल प्रयत्न हुए हैं । लोक साहित्य में जो यह वैशिष्ट्य अपने निखरे हुए रूप में मिलता है उसका कारण यही है कि लोक-साहित्य की रचना व्यक्ति के पूर्वराग या पूर्व द्वेष द्वारा नहीं होता । लोक गीत इन चारों प्रकार के साहित्य का सबसे अधिक उत्कृष्ट रूप है । लोकगीत के इन विशेषताओं

के अलावा शिल्प विधान की दो और मुख्य विशेषतायें पाई जाती है । वस्तुत: लोकगीतों ही के शिल्प विधान में लय और ताल का महत्व सबसे अधिक है । लोकगीत में जहां कथा का कोई पात्र प्रधान नहीं रहता वहां लोकगाथा में कथा और एक विशिष्ट पात्र बना रहता है । वस्तुत: लोकगाथा की परम्परा पुरुष पूजा की देन है । लोक-कथा का मुख्य प्रतिपाद्य मनोरंजन है, लोक नाट्य का उद्देश्य भी मनोरंजन ही होता है। रंगमंच के बिना ही ये खेले जाते हैं । लोकगाथा की ही तरह इसमें भी हास्य एक प्रमुख अस्त्र है और यहां हास्य अधिक सामयिक होने के कारण सतही होता है । "पूर्णमिद: पूर्णमिदम्"[४१] शीर्षक निबंध में पूर्णमिदम अर्थात् यह पूर्ण है, पूर्णमदं अर्थात् वह पूर्ण है । साहित्य नामक वस्तु से सरोकार रखनेवाले हर एक प्राणी के मन में एक गहरा प्रश्न है, इसमें कवि, आलोचक और लेखक तीनों एक साथ है । किसी ने सफाई देते हुए कहा कि भाई यह कलश अक्षत से परिपूर्ण, पर चूहों के भय से इसे खाली कर दिया । इस तरह इस निबंध में पुरानी रूढ़ियों को जैसे कि- यह काम करने में शकुन है तो यह अपशकुन- चित्रित किया गया है । पुरानी रूढ़ियों के कई प्रसंगों का उदाहरण यहां पर दिया गया है : जैसे कि निबंधकार कहते हैं मैं अपने गांव से जब लौटने को होता हूं तो दध्यक्षत का तिलक लगाये ज्योंही देहरी के बाहर पैर रखता हूं त्यों ही मेरी बूढ़ी दादी अंचल का एक सिरा माथे पर लगाये आगे आगे दौड़ती जाती है, घड़ा भरके ठीक बायें रखा है कि नहीं कहीं कुक्की गागर तो मुंह बाये नहीं पड़ी है ? अगर पड़ी है तो उसे तुरन्त औंधा देगी । यहां पर गांव की अनपढ़ बूढ़िया के विचार और प्रयाग के सुसंस्कृत साहित्य स्रष्टा के विचार दोनों में अन्तर स्पष्ट होता है । एक को सजा हुआ रंगा चुगा कलश खाली हो या भरा हो इसमें कोई अन्तर नहीं दीखता, दूसरे को अपने रास्तों में साधारण घड़े का भी खाली रहना बर्दाश्त नहीं होता । वैसे देखें तो ज्ञान दोनों को है । अपूर्ण मिदम् पूर्ण नहीं है । एक के विचार से 'पूर्णमिदम्' की कामना ही क्यों की जाय, दूसरे के विचार से- नहीं- इदं, अगर हो तो पूर्ण हो नहीं तो उसकी इयत्ता ही न रहे । उस घट की सादगी में वो अधूरे जीवनघट मिलकर पूरे हुए होंगे । उसके रससिंचन से कूलबधुओं का सुहाग बढ़ा होगा, पर आज वह कुक्का है इसीलिए

वह मंगल घट नहीं, अमंगल भरी कूंड़ी गागर है। इतिहास की मिट्टी को भाषा शास्त्र के जल से सानकर काव्य के मानवीय संस्पर्श ने जिसे वेदान्त के चाक पर पार्थिव आकार दिया, न्याय के अंवा में जो पककर तैयार हुआ, उस घट को घटघटवासी ने अपनाया। उस घट के पार्थिव बन्धन में कभी आकाश समाया, सागर भर आया, और कभी उसमें अमृत कलश ~~भरा~~ आया। गागर की सार्थकता थी सागर बनने में और सागर बनकर मोती उपजाने में। पर यह गागर अपने में सागर भरने की बात क्या करे, अपने को सागर तक पहुंचा भी नहीं पाई। यहां पर गांव में रहने वाला आदमी और शहरी आदमी के विचारों को देखा गया है। शहर को घट की रेखाओं से मतलब है। ये रेखाएं जहां मिल जाय वहीं उसकी ललक है, पर रेखाओं में जो चीज बंधती है उसका स्पर्श सुख उसे नहीं मिला। गांव में रहनेवाला सब कुछ बहा ले जानेवाली सरिता में मैया का दुलार पाता है, श्रम का वारि लेनेवाली मिट्टी की सोंधी उसांस में प्रेयसी का स्पर्श पाता है। पर शहराती आदमी की न कोई माँ है न प्रेमिका, न पुत्र है, न पिता है क्योंकि वह वितराग है। देहाती आदमी इस व्यावसायिक लेनदेन को जीवन की निःस्वन्ता और मनुष्य का खोखलापन समझता है पर शहरी संस्कारों वाला व्यक्ति देहात की इस मंगल भावना को एकदम काल्पनिक और निरर्थक समझता है। जिस तीव्र गति से हमारा भरापूरा राष्ट्र भीतर से खोखला होता जा रहा है, उससे गांव की जड़ भी अछूती नहीं है। यह परिप्लावन, पूर्णमिदम् का बोध ही नहीं बल्कि उसकी निरन्तर भावना ही है। व्यष्टि की 'इदम्' की यह पूर्णता ही समष्टि की 'मदः' की पूर्णता को अभिव्यक्त करती है।

'तकनीक और आदमी'[४२] शीर्षक निबंध में प्रश्न उठता है क्या सभ्यता का विकास और तकनीकी विकास नियत रूप से एक साथ होते हैं। अब तकनीकी विकास आज विकासशील देशों का चरम लक्ष्य बन गया है इसे अपने आप में एक प्रतिष्ठा मिल गयी है। आज तकनीकी की क्षमता विकास की मात्रा से विकास के गुण से मापी जाने लगी है। यदि तकनीकी का मानवीय उद्देश्य से विनियोग किया जाए तो यह सर्वथा संभव है कि

वातावरण की शुद्धता सुरक्षित रखते हुए भी मनुष्य तकनीकी विकास कर सकेगा। तकनीकी विकास की सोद्देश्यता की पहचान कराना आवश्यक है। जिस प्रकार यूरोप में नदियां धीरे-धीरे मृत्यु को प्राप्त हो गई हैं। उसका पानी पीने योग्य नहीं रहा, मछलियां जीवित नहीं रहीं-इसके लिए कारखानों का कचरा, जो नदियों के जल को दूषित करता है, सबसे ज्यादा जिम्मेदार है। प्रकृति को न तो विजेय रूप में देखा जा सकता है और न आराध्य के रूप में। उपभोक्ता मानने की दृष्टि ने ही दो प्रकार के ~~अतिरि~~ अतिरेकवादी समाधान प्रस्तुत किए हैं। विज्ञान के अविरोधी मानव विकास का एक समाधान यह भी निकाला है कि प्रकृति मनुष्य से अलग नहीं। तकनीकी विकास बुर्जुआ दिमाग की उपज होते हुए भी बुर्जुआ समाज के ही नाश का कारण बनने की क्षमता रखता है। तकनीकी समाज जितना बुर्जुआ समाज को मारता है उससे कहीं ज्यादा सर्वहारा समाज को ही मारता है क्योंकि जहां बुर्जुआ समाज तकनीकी विकास को जन्म देकर इतना लोभी बन जाता है कि इसका लोभ ही उसकी मृत्यु बन जाता है, वहां सर्वहारा समाज अपनी आर्थिक व्यवस्था में इतना अभिभूत हो जाता है कि वह अर्थ के अलावा और कुछ सोच ही नहीं सकता। इसी प्रकार कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि विकास ने आदमी और आदमी के बीच की दूरियां कम की है। आज तकनीकी विकास के ~~लोभ-~~ लोभ से सभी समान रूप से साझीदार न हों किंतु हानि में छोटे-बड़े सभी शरीक हैं। 'आधुनिक संदर्भ में आस्था की सही पहचान'[43] शीर्षक निबंधानुसार आज जो आदमी और उसके इर्द-गिर्द के बीच असन्तुलन का संकट उपस्थित हुआ है उसके पीछे संग्रह की भावना या बिलकुल तात्कालिक भूख और स्वार्थ की लिप्सा इन ही एकमात्र कारण है। तकनीकी की प्रगति तभी आदमी को आदमी से अलग करती है। आदमी जब दूसरे आदमी को ढकेलकर आगे बढ़ता है तो वह जितना बढ़ता है उससे कहीं ज्यादा पीछे ढकेल दिये जाने का खतरा मोल लेता है। परिवेश को नष्ट करके परिवेश का आधिपत्य पाने का रास्ता आत्मघातक रास्ता है। 'भारत तकनीकी ज्ञान' पश्चिम से ले रहा है, पर अपनी आस्था को गिरवी रखकर नहीं। भारतीय आस्था न तो यूनानी लोगों की देववाद से एकदम आक्रान्त आस्था है न मध्ययुगीन यूरोपीय धर्माक्रान्त आस्था है। इस

आस्था का विरोध प्रकृति से नहीं, यह आस्था मनुष्य के परिवेश को वस्तु या विषय के रूप में नहीं देखती। बल्कि आत्मा या विषयों के रूप में देखती है। आज इन्सान पकता रहा है कहां से हमें तकनीकी विकास की भूख जगी। महाभारत में युद्ध के विनाश को जब कवि का पात्र मापने चलता है तो अपने दु:ख को पृथ्वी के दु:ख से जोड़े बिना नहीं रहता। आज की स्थिति का तकाजा है कि आदमी आदमी पर ~~अनर्~~ अनाश्रित नहीं रह सकता। देश-देश पर अनाश्रित रह नहीं सकता। आदमी को आदमी के साथ लय मिलाकर रहना होगा - आस्था एक आदमी में न होकर समूचे आदमी में होगी और समूचे आदमी के साथ-साथ समूचे आदमी की समूची क्षमता में होगी। 'चिंतनकाल'[44] शीर्षक निबंधानुसार बुढ़ापा शरीर का धर्म उतना नहीं है जितना मन का। आज हमारी शहरी जिन्दगी को बड़ी तेजी से ऊब घेरती जा रही है। हमारे बच्चे तक कहने लगे हैं भाई बोर हो गए, आज कहीं घुमाने ले चलिए और उन्हें घुमाने ले गए तो वहां बोले- इस नुमाईश से तौबा कीजिए। ऊब गए, घर ले चलिए। तकनीकी विकास के सामूहिक उत्पादन के द्वारा एक सपाट एकरसता का ऐसा विस्तार किया है कि नई से नई वस्तु अपना नयापन खो देती है। शायद तकनीकी सभ्यता का यह अभिशाप है कि आदमी आदमी से ऊब जाय और एक घर में साथ रहते हुए भी अपने ही परिवार से एकदम कटकर अजनबी हो जाय। अस्ति की पहिचान राहुल जी ने दी, यह पहचान हो जाय तो कोई जगह परायी नहीं लगती। कोई आदमी पराया नहीं लगता। यह पहचान धीरे-धीरे बढ़ेगी बशर्ते की अपने भीतर आत्मीय बनाने का दंभ न हो। अपने को एक नये प्रकाश म के आगे अकिंचन याचक मानने का भाव हो। यहां पर आदमी याचक तो बन जाता है, पर नई किरन से निहाल होने का भाव नहीं सीख पाता। 'मा पुरा जरसो मृथा : जीवनधर्म'[45] शीर्षक के अर्थानुसार बूढ़े होने से पहले मरो मत। मर तो आदमी आज बचपन में ही जाता है- और बचपन से उबरा भी तो जवानी आते-आते वह एकदम मुर्दा जाता है। मौत बुढ़ापे का इन्तजार ही नहीं करती। हालांकि जिन्दगी की बात हर एक कदम पर बड़े जोर के साथ की जाती है। अब हमें, जीवं शरदं शतम्' की वाणी अपरिचित लगने लगती है। अमृत पुत्र का विशेषण अपूर्ण प्रतीत होने लगा और 'जिजीविषो शतम् समा: ।' अव्यावहारिक भासने लगा, यौवन से बुढ़ापा आये इसके पहले ही मौत से

हार गया । उसकी आंखों की रोशनी कम हो इसके पहले ही उसके दिल का चिराग बुझ गया । कुछ सन्त लोगों ने धार्मिक और धर्म निरपेक्ष का टंटा खड़ा किया । हम काम करने के लिये नहीं बल्कि काम करने वालों को सिखाने के लिए इस पृथ्वी पर पैदा हुए । वैदिक ऋषियों ने कभी भी शरीर और मन के कठोर नियन्त्रण पर बल नहीं दिया । उनके ब्रह्मचर्य की कल्पना में गृहस्थ जीवन का स्वस्थ और संतुलित विषय भोग सम्मिलित था । मनु ने कहा है कि एक पत्नी के साथ जो सहज ढंग से गृहस्थ जीवन बिताता है वह भी ब्रह्मचारी है । सन्यास हमारी व्याख्या के अनुसार पलायन नहीं था, वह समाज और व्यक्ति के उत्तरदायित्वों से मुक्त होने के अनन्तर विश्व के साथ एकाकार होने की तैयारी थी । पुरुषों का पौरुष इसी से नापा जाता है कि कितना वह अमर्ष रख सकता है और कितना वह सहन न करते हुए उठ खड़ा हो सकता है । मनुष्य के उत्कर्ष से बढ़कर कोई चीज हमारे लिए नहीं थी । तुलसीदास और गुरु रामदास इन दोनों महापुरुषों ने ज्ञान को कर्म में मिलाने की कोशिश की, पर प्रेम का रंग बड़ा गहरा था और जीवन को काम्य बनाने में उतनी मौज नहीं थी। उसमें गैर जिम्मेदारी की वह निराली मस्ती नहीं थी । इस देश की संस्कृति- गोविन्द है, गंगा है जिन्हें भगीरथ ने अपने परिश्रम से पहाड़ खोदकर निकाला था । देश में नया जीवन संचार करने की बात जो करते हैं उनका इसके इतिहास को, जो विन्ध्य पर्वत माला की भांति लेटा पड़ा हुआ है- देश की भूमि पर उठाकर खड़ा करना होगा । यौवन के जय की आकांक्षा से भरो मत, बुढ़ापे की बात सोचो मत, मृत्यु का स्वप्न देखो मत । सत्य केवल यह जीवन है और इस जीवन का उत्कर्ष यौवन है । इस यौवन के द्वारा ही हम जीवन को साध सकते हैं । 'अहम् नृतात्सत्यमुपैमि: सत्यधर्म :'[४६] निबंधानुसार सच के पास पहुंचने की कोशिश और झूठ से बचने का संकल्प अनादिकाल से हम करते आये हैं । हमारा पूरा इतिहास सत्य की खोज का इतिहास है । सत्य की खोज कभी हारी नहीं, कभी थकी नहीं, हम झूठ से दूर हटते रहे, सत्य का रूप खिलता रहा । इन्द्र, वरुण, वायु, अग्नि और सूर्य यदि सत्य हैं तो शिव, उमा, विष्णु और दुर्गा भी उतने ही सत्य हैं । सत्य का पैमाना है सत्य की खोज, सत्य को पाने की कोशिश।

जिसे पाकर सत्य की खोज रुक जाय वह सत्य नहीं, वह मिथ्या है । सत्य का सत्य से खण्डन होता है, सत्य का सत्य से भेद होता है । हमने विजातीय सत्य को भी स्वीकार किया । किसी सत्य से इन्कार न किया । व्यक्ति का सत्य पारिवारिक सत्य से पृथक नहीं तथा देश का सत्य विश्व के सत्य से पृथक नहीं । सत्य को कायरता का, पलायन का और वंचना का कवच नहीं बनाया जा सकता । सत्यता इसी में है कि हम जितना ही उसके पास आयें वह उतना ही हमसे दूर खिसकता जाय । 'दाम्यत दत्त दयध्वम्: दै.47 दान क्या है ? ~~दान धर्म~~ शीर्षक निबंध में दान धर्म पर प्रकाश डाला गया है । मनुष्य का जीवन ~~अन्न~~दान है । दान की परिभाषा है अपनेपन का दावा छोड़ना, जिसे अपनी मानकर ममता रखी, उस वस्तु को सहज भाव से दूसरे को अर्पित कर देना, यह दान पराये, अपने को जोड़नेवाली सन्धि है । दान की दूसरी सीमा है देशकाल । समय जैसा दान मांगे, देश जैसा दान स्वीकार करें उस देशकाल के लिए वही दान है । एक समय था कि देश ने तरुणों के प्राण मांगे, सुहागिनों के सुहाग मांगे, माताओं की गोद मांगी, पिताओं का सहारा मांगा, परन्तु समय ने दूसरी मांग की, देश ने दूसरी पुकार लगायी, वेदी ने दूसरी समिधा मांगी । रक्त का भाव गिरा, स्वेद का भाव ऊंचे चढ़ा, श्रम दो, श्रम दो- दूसरी ओर से विश्वात्मा ने पुकार दी, पृथ्वी ने पुकार दी, पृथ्वी की दलित मानवता ने पुकार दी । मनुष्य से मनुज को अभय मिले, हम न तो भोग-विलास ही कर रहे हैं न किसी को सता ही रहे हैं। इसीलिए हमें तो दान देना है । क्योंकि हम अपनी चीजों से चिपके हुए मानव धर्मी हैं । हमें वह धरोहर विश्व को देनी है- वही हमारा सच्चा दान-धर्म होगा ।

विद्यानिवास जी ने कई प्रकृति विषयक निबंध भी लिखे हैं - उन्होंने प्रकृति का जीवंत रूप अपने निबंधों में प्रस्तुत किया है ।

<u>प्राकृतिक :</u>

श्री विद्यानिवास मिश्र में प्रकृति का वर्णन अपने निबंधों में किया है ।हृदय तथा

बुद्धि से समन्वित लोकजीवन तथा प्रकृति का जो सूक्ष्म निरीक्षण इनके निबंधों में दीख पड़ता है वह इनकी बौद्धिक सजगता एवं सरलता का परिचायक है । उन्होंने अपनी निबंध पुस्तक, 'तुम चन्दन हम पानी' के 'भोर का आवाहन'[48] शीर्षक निबंध में भोर का स्मरण किया है । भोजपुरी के एक मंगलगीत की कड़ी के अनुसार भोर का स्मरण ~~किया है~~ पितरों का स्मरण, घर के अभाव का स्मरण और मंगल के अमोघ प्रभाव का स्मरण किया जाता है । भोर तो सब जगह होती है और एक दो पंछी भी हर एक मुंडेरी पर आकर मनुष्य को प्रकृति के साथ, उसके पुराने सम्बंधों की गाथा, वह मनुष्य से सुने या न सुने, चाहे न चाहे, कभी न कभी सुना ही जाते हैं । लेकिन एलार्म घड़ी या मिल के भोंपू या सूरज की गरम धूप से जिनकी नींद खुलती है उनको एक चिड़िया के बोलने के साथ प्रभात बेला का तादात्म्य, कभी सपने में भी नहीं फलकेगा । आज का युग सन्देशों से भरकर मधुवन का कूप बन गया है । आगे बताया गया है कि चिरईया का यह सन्देश उस अकेली चिड़िया की सुरीली कंठध्वनि से जो सुन पाया वह बड़भागी हैं और जो सुनकर उसे प्रत्येक मंगल बेला में अपने स्वर से उसे भरकर सुना पाया, वह लोककंठ दुगुना बड़भागी है । भोर के खेतों से निकलनेवाले बैलों की घंटियों की टुनटुनाहट स्वप्न की स्मृति बन चुकी है । पर भोर का वह मंगलगीत बेले के गजरे की तरह अब भी मन में महक रहा है । चिरईया की पतली सी आवाज में सुप्त मानवता ने अपने अस्तित्व की आदि प्रतिज्ञा दुहराई है कि वह बंधन में पड़ने के लिए नहीं, बल्कि मोक्ष के लिए हैं । यह आवाज श्रमवारि मांगती है सबसे अधिक साहित्यकार से । रस की उत्पत्ति तेज से होती है और पानी ताप का ही रूपान्तर होता है । व्यष्टि रूप में आज साहित्य में तप की भी अर्चना है, आनन्द की भी परिकल्पना है, बुद्धिवाद का विलास और भावना की रंगीनी है । 'चिरईया एक बोलेले'[49] शीर्षक निबंधानुसार भोजपुरी के मंगलगीत की पहली कड़ी या यह गीत विवाह के पांच दिन पूर्व से विवाह के दिन तक भोर के आवाहन के रूप में प्रथम मन्त्र की भांति उच्चारित होता है । यह स्मरण प्रतिबोधित है पहली चिरईया की बोली से । इसका देहाती नाम 'ठाकुर चिरईया' बताया गया है । इसकी बोली में ठाकुर जी ठाकुर जी की सदृश्यता मिलती है ।

इसका कंठ बहुत महीन और सुरीला होता है और शुक्रतारा के उगने के थोड़ी देर बाद इसकी प्रभाती उठती है । इसीलिए इसको सुनने का सौभाग्य भी बहुत कम लोगों को मिलता होगा । क्योंकि बहुत कम लोग शुक्र तारा का उदय देखने के लिए उत्कंठित बने रहते हैं । इसी सन्देश को अनगिन रोगों का संक्षिप्त उत्तर कहा गया है । ठाकुर चिरईया की आवाज भीतर ही भीतर धीमी गूंज बन चुकी है । भोर के खेतों से निकलने वाले बैलों की घंटियों की टुनटुनाहट स्वप्न की स्मृति बन चुकी हैं । गुरुड़ के डैनों का अभ्रभेदी निनाद और कबूतर की टोलियों की गुटुरगूं के कोलाहल के बीच घने अन्धकार की प्रगाढ़ छाया में निरंशक भाव से अदम्य विश्वास के साथ वह अकेली चिरईया बोल उठी है । जिन्दगी की कसम खाने मात्र से ही जिन्दगी का गीत बनने का जो साहित्य दावा करता है वह इस आवाज को अपने में नहीं भर सकता । आज का साहित्य बिजली के पंखे के नीचे का साहित्य है, उसमें श्रम की बूंद उठने नहीं पाती । भारत की हर चिरईया एक होते हुए भी अनेक को चुनौती है, अपने स्वर की उच्चता के बल पर नहीं- बल्कि अपनी शाश्वत मधुरता और पवित्रता के कारण ।

'आंगन का पंछी'[50] शीर्षक निबंध में आंगन का पंछी गौरैया को कहा गया है जिस तरह गौरैये में कोई रूप रंग की विशेषता नहीं, कण्ठ में कोई विशेष प्रकार की विह्वलता नहीं, उड़ान भरने की भी कोई विशेष क्षमता नहीं, महज आंगन में फुदकने का उत्साह है, उसी प्रकार तुलसी के पौधे में न तो सघन छांह की शीतलता है, न गन्ध का जादू, न रूप का श्रृंगार । केवल आंगन का दुःख-दर्द बटाने की मन में बड़ी उत्कण्ठा है । गौरैया के लिए मात्र जनविश्वास का यह उपहार है कि वह पक्षियों में ब्राह्मण है । जो लोग चिड़ियों का शिकार करते हैं, वे गौरैया नहीं मारते । गौरैया को आंगन में मेहमान की तरह आये हुए बच्चों के समान माना गया है । गौरैया दाना चुगती है, पर शायद जिस मात्रा में दाना चुगती है उससे कहीं अधिक लाभ वह खेत का इस प्रकार करती है कि अनाज में लगनेवाले कीड़ों को भी वह साफ कर देती है । चीन में इन गौरैयों के साथ नादिरशाही बदला लिया जा रहा है । गौरैया के खिलाफ अभियान जिन ~~हमदर्दी~~ राहगीरों

ने चलाया है उनको अपने राह की मंजिल नहीं मालूम । गौरैया के प्रति हमारी प्रीति हमारे निजी स्वार्थ से प्रेरित है । मनुष्य उस गौरैया की उच्छलता अपनी संतान में पाना चाहते हैं । उस गौरैया का सहज विश्वास अपनी आनेवाली पीढ़ी को देना चाहते हैं । हम जिस पारिवारिक जीवन से अभ्यस्त हैं उसमें राग-रंग और तड़क-भड़क के लिए कोई स्थान नहीं है । केवल एक दूसरे से मिल-जुलकर एक दूसरे के प्रति बिना किसी अभिमान की तीव्रता के सहज भाव से समर्पित होने ही में हम जीवन की अखण्डता मानते हैं । निबंध-कार ने छोटी बच्ची और गौरैया इन दोनों को एक-दूसरे में ओतप्रोत अभिव्यक्तियां कहा है । `साँझ मई`[51] शीर्षक निबंध में सन्ध्या का वर्णन किया गया है, प्रकृति में सन्ध्या का बिखराव और महत्व बताया है, इतना ही नहीं इसे जीवन गंगा का तट कहा है, उन्होंने चैत की साँझ की बात कही है । इसे यौवन की संध्या की बात कही है । यह यौवन की सन्ध्या है, बड़े-बड़े सपने पंख समेटे- समेट के, सिर झुका के, सोने चले गये, अब उछाह ठंडा पड़ने लगा, जीवन की गति धीमी पड़ गयी, गंगा की धारा का वेग मन्द पड़ गया । गंगा थोड़ी देर तक स्तब्ध होकर पीछे निहारने लगी है कि कौन किनारा पीछे छूट गया । यौवन की उठान का ऊंचा कगार- सीधे खड़ा उपर से नीचे ताकने पर हृदय कांप उठता है, पग-पग संभलकर न उतरें तो हरिशरण हो जाय । आज की जवानी तो पतझार से गठबन्धन किये आती है और पात-पात झहरा के ले जाती है, ठूंठ कंकालों को और झुलसाने के लिए, थहराने के लिए, जगाने के लिए । कब चोरी चोरी वह आती है यह कोई नहीं जान पाता । अब की साँझ की निवृत्ति की क्षीण आशा भी नहीं रह गई । उस अंधियारे जमाने में बिजली के लट्टू नहीं थे, वहां रूप रूपहली रजनी की बाट जोहता था । अब दिन-रात के बराबर है, रात में कभी-कभीयों नित्य ही दीवाली हुआ करती है । अब रसराज श्रृंगार केवल पूर्ण जनतांत्रिक ही नहीं बन गया है बल्कि अपने सिर का ताज उतारकर राजदण्ड फेंककर पूरा सर्वहारा बनकर खुली बगावत का नारा लगाने लगा है । अब सन्ध्या अर्द्धविराम न रहकर पूर्ण विराम हो गयी है । साँझ होते ही इस कृष्णाभिसारिणी लक्ष्मी की प्रेमलीला उकताने लगती है और परकीया की आतुरता का चरम उत्कर्ष होने पर भी अपूर्व रस आता है । इस निभृत प्रेम व्यापार में । `सन्ध्या का ध्यान`[52] शीर्षक निबंध में

सन्ध्या की उत्पत्ति कैसे हुई यह बताया गया है। ब्रह्म की इस मोहतनु को शिव ने शर से बांधकर नष्ट करना चाहा, तो उसी तनु से सन्ध्या की उत्पत्ति हुई। सन्ध्या मोह और ज्ञान की संधि तो बनी ही वह नारी और पुरुष के मिलन की भूमि भी बनी। सन्ध्याएं दो होती हैं एक प्रात: दूसरी सायं। प्रात: सन्ध्या सूर्य का अभिनंदन करती है और सायं सन्ध्या का। सूर्य की आराधना ज्ञान के लिए और अग्नि की कर्म के लिए की जाती है। संध्या का आवाहन होता है जीवित बंधुओं का नाम लेकर। उनसे `दियना` जलाया जाता है, घर के मंगलमय भविष्य की काव्यमय कामना की जाती है। जब-जबयह गीति सुनी है तब-तब लगा है जैसे वेद मन्त्रों का उच्चारण हो रहा हो। इस गीति में केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति की वन्दना ही नहीं, बल्कि मनुष्य के लिए उन्नयन की प्रेरणा भी मिलती है। बाह्य और आभ्यन्तर कलुष के परिमार्जन का दुष्कर सेवा कार्य भी उसी के पल्ले पड़ता है इतना ही नहीं इस गीति में यौवन के विषय भोग का मनोरम संकेत फांक रहा है। सोने का दीप कर्म के शाश्वत आधार का प्रतीक है और रूपा की बाती चंचल और भंगुर रूप का। सरसों का तेल पार्थिव स्नेह का। बीच में ही तेल का थमना और दिये का बुफना अशुभ है। जीवन के अधूरेपन और वैफल्य का चिन्ह है। वही कवि कल्पना उन असंख्य अनाम कण्ठों में मुखर होकर आती है, जो अपने अनुभवों की गरिमा अनायास और अनजाने उल्लास से दाण में उंडेल रख देते हैं। उनके लिए जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष, दु:ख-सुख और तम-प्रकाश उस उल्लसित दाण में एकीभूत हो जाते हैं, और उन्हें मानव जीवन के परम लक्ष्य की सहज ही उपलब्धि हो जाती है। संफा गीतियां ऐसी उपलब्धियों की ही निर्देशन हैं।

`निर्माल्य`[५३] शीर्षक निबंधानुसार देवता का निर्माल्य और प्रसाद दोनों की उपेक्षा एक घोर अपराध है। पर दोनों में एक मौलिक अन्तर है। निर्माल्य देवता के श्रीचरणों में चढ़ने की मुहर है और प्रासाद देवता के श्रीनयनों की कृपाकोर हैं निर्माल्य वह बैरंग डाक है, जो टिकट न लगाने के कारण लौट आयी हो जबकि प्रासाद पत्र का अनुकूल उत्तर माना गया है। इसी से प्रासाद न केवल शिरोधार्य बल्कि यह कंठधार्य भी हो

जाता है । न जाने कितने निर्माल्य मानवीय आकार धारण किये हुए आते हैं कोई गेंद की तरह गोलगप्पा, कोई कुमुद की तरह शर्मीला, कोई जुही की तरह नाजनीन, और कोई बेले की तरह मदमस्त । निर्माल्य तो सिर आंखों पर चाहे वह बन देवता का हो, चाहे गृह देवता का हो, इस निर्माल्य को सिर से कुआकर ही विसर्जित करने का निषेध है क्योंकि निर्माल्य राष्ट्रीय सम्पदा है । कितनी बार वह चढ़ा और कितनी बार उतरा इसका कोई हिसाब नहीं और निर्माल्य अब खुदा की नहीं आदमी की सबसे बड़ी न्यामत है । निर्माल्य में कभी तो बेला के फूल होते हैं, कभी कमल के, कभी धतूरे के और इनके साथ बिल्पत्र भी रहता है । 'शिरीष का आग्रह'[५४] शीर्षक निबंधानुसार शिरीष के फूल का प्राकृतिक वर्णन किया गया है । प्रकृति में शिरीष का स्थान बताया गया है । कालिदास अपने काव्य में शकुन्तला के देह सौन्दर्य का वर्णन करते समय उसके कानों में शिरीष के फूल को रखना भूल गये हैं, शिरीष का फूल उन्होंने नहीं खोंसा-इतनी सी बात पर वे पछता रहे हैं । कालिदास को यहां पर पूछा गया है कि आम्रमंजरी को भूलकर तुम शिरीष के पीछे कैसे पागल होने लगे ? वसन्त का उन्माद, वर्षा की उत्कंठा, शरद की तृप्ति ये सब समझ में आ जाए - पर ग्रीष्म के दिन से उनका यह लगाव कालिदास के अनुरूप नहीं लगा । लगता है कहीं मूल में ही गड़बड़ी है । यहां पर सुकुमारता और ताप का अद्भुत साहचर्य बताया गया है । शिरीष की सुकुमारता को ग्रीष्म के ताप की ही परिणति है ऐसा माना गया है । भारतीय चिंतन में तप शरीर को कष्ट देने की साधना नहीं, समस्त ऐन्द्रिय व्यापार को अनुशासित करने की साधना है । शिरीष को भारतीय जन-श्रुति का बीजाचार कहा गया है जिसे सुना जा सकता है, पढ़ा जा सकता है, जपा जा सकता है, पर जिसे छुआ नहीं जा सकता, उसे छूते ही वह मुरझा जाता है । भारतीय परंपरा को जिसने पकड़ा उसने इसे नष्टकर दिया । ग्रीष्म के ताप को तिरस्कार की सुलगती आग कहा गया है । अपनों से विद्रोह, अपने सर्वस्व से घात जो झेले इसीलिए कि नई सृष्टि का दायित्व अपने और अपने ऊपर ओढ़ना है, उसकी शिरीष की पात्रता मिलनी चाहिए । हमारी संस्कृति की संतान परम्परा -इसीलिए कभी उच्छिन्न नहीं होती- क्योंकि हम शक्ति को पौरुष में नहीं, स्त्रीत्व के पूर्णत्व में साकार देखते हैं । कालिदास की शकुन्तला भरत की नहीं -

भारत की जननी है, वही भारत की वन्दनीय भारती है ।

`टिकोरा`[55] शीर्षक निबंध में लेखक उन विध्वंसक तत्वों के प्रति विचार प्रकट करता है जो ~~विकास~~ विकास के पूर्व ही अंकुरों को मार डालते हैं । यहां पर निबंधकार कहता है कि अमराई में एक दिन इतने बौर आ गये थे कि किसलय और पल्लव रागलालसा की ललक से एकदम विलीन हो चुके थे । वे बौर धीरे-धीरे लसिया-लसिया कर धूलि में मिल गये । उनकी मादक महक से आती बयार में खुमारी आने लगी, और जिन बौरों पर पुरवा की कृपा नहीं हुई, उनकी मुरझाइयों में सरसों जैसे टिकोरे आने लगे थे । बौर और टिकोरे के उपयोग बताये गए हैं । बौर, बूटी में कुछ रंग लाने में कभी-कभी काम आ जाते हैं वही उसका शास्त्रीय प्रयोग है । और जब बूटी का रंग जरूरत से कुछ ज्यादा गहरा हो चलता है तो उसे उतारने के लिए टिकोरों की जरूरत पड़ जाती है । इससे अधिक इनका कोई महत्व नहीं है । `कदम की फूली डाल`[56] शीर्षक निबंधानुसार कमल के फूल का वर्णन किया गया है । कमल तालाबों एवं जलकुम्भीयों में उगते हैं, सरोवर में खिलते हैं पुरइन में उसमें कम पत्ते आते हैं वे आते भी हैं तो बहुत छिपे-छिपे आते हैं । निबंधकार के अनुसार जिसमें रात-रात मधुपों को पान कराके भी न रीतनेवाला मकरन्द अक्षय कोष है, भारती का आसन शिव का अर्ध्य विष्णु का पद्म और ब्रह्मश्री का ध्यान एक साथ भरने की क्षमता हो वह कमल नहीं फूलता । उसे शिव के हृदय का उल्लास कहा गया है, वह अभिजात्य का निर्मल जीवन और उत्कर्ष का उज्ज्वल प्रकाश मांगता है । उसका उन्मथित होना स्वाभाविक इस समय पर है कि जब बादल उमड़-घुमड़कर रहे हों, पंक और जल एक हो रहे हों, हंस दूर उड़ते जा रहे हों । गुलाब के लिये क्यारी चाहिये, कमल के लिए जतन से संरक्षित शान्त और निर्मल जल अवगाह, पर कदम्ब को धरती की विशाल गोद में दो अंगुल जगह मात्र बीज छोड़कर निकलने के लिए चाहिए । इसी तरह सब विलक्षणताओं में किसी एक की भी अपेक्षा न रखता हुआ किसी सन्त के प्रासाद या माली की रखवालीयों और शिल्पी

के कौशल की तनिक भी चाह न करता हुआ यह कदम्ब खिलता चला जाता है। यहां पर कदम्ब भी यही हैं और उस कदम्ब के फूल के साथ सौ-सौ दिशाओं में एक साथ विकसने वाला लोकमंगल का राग भी वही है। जैसे कदम्ब की कलम करने की कोशिश नहीं हुई वैसे ही लोकरागिनी को भी अपने मनमाने ढंग से सोचने की कोशिश नहीं की गई। जब कला ने अपने को सजाना चाहा, जब साहित्य ने तृषित कंठ से दो घूंट मांगा तब उसने कामधेनु बनकर दुग्धदान किया। साहित्य में जो प्रतीक घिस जाते हैं, जो चरित्र निर्जीव हो जाते हैं और जो विषय नीरस हो जाते हैं, वही लोकरागिनी का स्पर्श पाकर नयी चमक, नया जीवन और नया रस पा जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कदम्ब की डाली। लोक साहित्य को कदम्ब के केसरों में अंचित धरती का पुलक कहा है। कदम्ब का फूल नख की ज्योति नहीं, कर-कमलों का लीला कमल नहीं-कानों का शिरीष नहीं, वह सीमान्त भरनेवाला सौभाग्य का श्रृंगार है। वह मंगल की परम सिद्धि का प्रतीक है।

'हर सिंगार'[57] शीर्षक निबंधानुसार नेह और स्नेह का प्रतीक हरसिंगार है, जो उपेक्षित है पर यथार्थ की भूमिका है, यह सात्विक प्रेम की असली पहचान है। हरसिंगार बरसात के उत्तरार्द्ध का फूल है, जब बादलों को अपना बचा खुचा सर्वस्व लुटा देने की चिन्ता होती है, जब मेघा और पूर्वा में झड़ी लगाने की होड़ लग जाती है, तब हरसिंगार के फूलों की झड़ी भी शुरू होती है और वह शुरू होकर तब थमती है जब पेड़ में एक भी वृन्त नहीं रह जाता। सबेरा होते-होते हरसिंगार शान्त और स्थिर हो जाता है उसके नीचे की जमीन फूलों से फूलकर बहुत ही झीनी गन्ध से उच्छ्वासित हो उठती है। हरसिंगार के फूल की पंखुडियां सफेदी देती हैं, पर उनका अन्तस्तल ऐसा गहरा कुसुम्भी रंग देता है कि उसमें सफेदी डूब ~~जाने~~ सी जाती है। हरसिंगार की ढुंरन पाकर उत्कंठा और तीव्र हो जाती हैं, मान-और बलवान् हो जाता है। दर्द और नशीला। हरसिंगार अपना सब कुछ लुटाकर चुप रहता है। जीवन के निशीथ में- विरह के अनन्त अंधकार में और निराशा की विराट् निःशब्दता में,

धीरज के ललौंहे फूल बरसाना उसका काम है । सावन की हरियाली में और भादों की अंधियारी में वसन्त की सुधि दिलाने के लिए ही हरसिंगार अपनी वसन्ती बूंदी बरसाता है । इसका सम्बंध मृत्यु से भी है, वह स्मशानवासी हर का श्रृंगार है । हरसिंगार प्रेम की मरण दशा में अनुराग की सुधा बिन्दु छिड़काकर अपना नाम सार्थक कर देता है । एकोन्मुख प्रेम की मृत्यु को बहुन्मुख प्रसार का जीवन देना यही हरसिंगार का सन्देश है । निबंधकार को आज हरसिंगार की जरूरत है, घोर दुर्दिन की झड़ी में वसन्ती बहार की याद दिलानेवाला कोई नहीं है । 'छितवन की छांह'[५८] शीर्षक निबंध में निबंधकार के मतानुसार गन्ध और गन्धवती की पूजा आसान नहीं । शब्द और आकाश तो कोने-कोने में अभिव्याप्त है, स्पर्श में वह रंगीनी, और मस्ती नहीं, एक क्षणिक तृप्ति है और गहरी उत्तेजना, बस आगे कुछ नहीं । इस गन्ध साधना का नन्दनबन यही छितवन है । छितवन में चम्पा के रूप का ज्वार नहीं, कुमुद का स्निग्ध, शीतल, स्पर्श और कदम्ब का मधुर रस नहीं, छितवन का सौन्दर्य व्यष्टि में नहीं, उसकी समष्टि में निहित है । छितवन की छांह में भुजंग भी आते हैं, पर अपना समस्त विष खोकर । वह पार्थिव शरीर यौवन का प्रतीक बताया गया है । इसमें अतृप्ति की तृप्ति, अरति की रति है और है अथ की इति । छितवन की सी गन्ध पाकर मदोन्मद गज भारतीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में सर्वप्रधान उपमानों में जा बैठा, पर छितवन की ओर किसी ने एक दृष्टिपात तक नहीं किया । छितवन की छांह मधुमास की नयी संध्या में और वह फिर मिलती है कुआर की दोपहरी में, उसे यौवन के चढ़ाव और उतार का मापदण्ड कहा है । छितवन साक्षी है प्रीति का, प्रेम का । छितवन की छाया में जाते ही आदमी के सब पुण्य खतम हो जाते हैं ।

'धानपान और नीली लपटें'[५६] निबंध में प्रकृति का वर्णन किया गया है, हल्की-हल्की फुहार पड़ रही है, दिन मटमैला है, सड़क पर मोटरें कम निकल रही हैं । धानपान यह सुनहली और हरी टिकुलियों के जोड़े का भोजपुरी नाम है । हमारे लोकजीवन में पान और नवपरिणीता में बहुत घनिष्ठ सम्बंध है । नई बहू को पान के पत्ते की तरह रखी जा सकती है, धूप न लगे, पानी न लगे, बार-बार फेर-फेर कर पान के पत्ते सहेजे जाते हैं उसी तरह नई बहू की परिचर्या होती है, उसे जतन से पाला जाता है, उसका रंग निखारा जाता है । नए नए मांगलिक गीतों और अनुष्ठानों से । पृथ्वी बड़ी

कठोर पर साथ ही बड़ी उदार है । धानपान उसकी आन्तरिक कठोरता और कोमलता के प्रतिक हैं । धान कर्तव्य है, पान अधिकार है, धान सीता की तरह तपता है, पान राम की तरह जुड़ा देता है । संसार के वे देश जो पान के रस से परिचित नहीं- अधिकार के कसैलेपन और रस से भी अपरिचित हैं वे अधिकार का अर्थ समझते हैं नशा या सन्ताप। `बालू के ढूह`[६०] शीर्षक निबंधानुसार वैज्ञानिक ऐसी विरान जगह पर पहुंच जाते हैं जहां उपर एक गांव है उसके पास ही एक ऊंचा कगार है और नीचे बालू का ढूह है। बालू की ढूह आधुनिक यांत्रिकता की करुण नियति को प्रतिबिम्बित करनेवाली है । फैक्टरी में पत्थर के टुकड़े रेत बनते हैं, आदमी का चट्टान जैसा साहस रेत बनता है, मानवीय संवेदना की धारा रेत बनती है । मनुष्य के घर में भी रेत की अदृश्य दीवार खड़ी हो जाती है, इस दीवार को तोड़ने के लिये जब कुछ शब्दों के हथौड़े चलते हैं तो वे शब्द टूट-टूटकर रेत बन जाते हैं । यहां पर `बालू की ढूह` रेत को मनुष्य की जिन्दगी से समान मानकर उदाहरण दिया हैं । जब आदमी आदमी से तटस्थ हो जाता है, जब उसके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती या होती भी है तो प्रतिक्रिया भी ऐसी पूर्व नियंत्रित होती है कि प्रतिक्रिया जैसी लगती ही नहीं । तब लगता है कि आदमीयत की लाश ढोयी जा रही है । व्यक्ति का ही नहीं समाज का भी दर्द जब केवल छूछे आकाश की छूछी लहर मात्र बनकर रह जाता है तो वह किसी को भी चुभता नहीं ।

`बसन्त न आवे`[६१] निबंध में वसन्त स्वयं आज उन्मन है। आज उसके प्रिय सखा का बिछोह उमड़ आया है। निबंधकार कहते हैं कि वसन्त के रोएं रो उठते हैं, जब उसे लगता है कि अपनी सहकार मंजरियों से उसे तिलांजलि का कार्य लेना है । सचमुच यदि वसन्त आये तरुणाई में तरुणाई भरने के लिए, ठूंठ को भी पल्लवित करने के लिए और पल्लवित को पुष्पित करने के लिए तो उसका आना आने की तरह लगे । और यदि उसके आने से ` नयो पातन को उन यों पतझारे` हो तो उसका न आना ही अच्छा ।

वसन्त को प्राणान्वित करनेवाली बयार उन्हीं चन्दन सुरभित मलयांचलों से आनेवाली है जिनमें आज असंख्य फणधरों की विष ज्वालाएं धधक रही है । वसन्त के कण्ठ में अभी 'नाइटिंगल' की फांसी लगी हुई है इसका दुःख नहीं, दुःख तो इस बात का है कि प्राणसखा मदन भी आज वसन्त की छाती पर मूंग दलता हुआ दनादन फायर करता चला आ रहा है । 'सांची कहौं ब्रजराज तुम्हें रतिराज किधौं रितुराज किधौं हैं'[62] शीर्षक निबंध में वसन्त पूर्व और पश्चिम दोनों में नवयौवन की मस्ती का प्रतीक माना गया है । रति की भावना का मुदित रूप किसलय 'कुसुम' केसर और गंध की ऋतु में अनुबिम्बित हो पाता है। जहां वसन्त हिमानी में उष्मिल फुहार के रूप में आता है। वहां जवानी भी देर में विकसती है किन्तु जहां वसन्त पतझार के पीछे-पीछे आता है, जहां उसे जगाने के लिए किसी पछुआ बयार को अपनी समूची प्राणशक्ति लगानी नहीं पड़ती, वहां स्थिर मादकता होती है । कालिदास और बाण की कला में वसन्त केवल उद्गम ही नहीं, उसका पूर्ण विकास भी है । भारत की कला का प्रेय श्रेय से अविभक्त है और इसलिए उस कला का श्रेष्ठ स बसंतश्रेयान मात्र न होकर श्रेष्ठ है वह आग ही नहीं सुलगाता, मस्त की होरी भी लगाता है । वसन्त और कला के बीच कौन सा - सम्बंध हो, और उसका स्वरूप कैसा हो इसका विचार करने के लिए भी कला के ऐसे विकास की आवश्यकता है जो वसंत के कृपादान मात्र पर अवलंबित न होकर अपने वितान से वसन्त को भी कुलनार बनाने की क्षमता रखता हो । अन्यथा वसन्त की इतरान में कला विहंस न सकेगी । वह नीचे दुबकी रहेगी और संस्कृति का प्रवाह रुद्ध हो जायगा । 'घने नीम तरु तले'[63] शीर्षक निबंध के अनुसार कहें तो नीम को ही 'असन, वसन, डासन, मानकर चलनेवाले प्राकृतिक चिकित्सक हैं ऐसे लोगों से विषैले नाग भी पनाह मांगते हैं । नीम क से क्या मिलता है यह बताते हुए निबंधकार कहते हैं कि असह्य गन्ध, असह्य स्वाद, यहां तक कि कुसुमित नीम का रूप भी असह्य चारों ओर बुन्दियां छिटकी हुईं, पत्तियां इतनी दूर-दूर कटी-कटी कि पेड़ की जड़ बिचारी और (सहारे) के लिए तरसती रहती हैं। आंवले के छोटे से पेड़ के नीचे नीम की गन्ध चाहे सताये -पर इसकी तिताई नहीं रुलाती। कुछ लोग नीम का फूल भरी डाँगी से बैसाख की महिमाशालिनी देवी की वंदना करते दिखते हैं पर समस्त जगत आज 'घने नीम तरु तले' की नशावनी छाया में मन्त्रमोहित ही मिलता है ।

'चन्द्रमा मनसो जात:'[६४] शीर्षक निबंध में चन्द्रमा के जन्मकर्म के सम्बंध में अनेक कथाएं हैं। सबसे अलग और विलक्षण कल्पना है कि 'चन्द्रमा मनसो जात:' अर्थात् चन्द्रमा विराट पुरुष के मन से उत्पन्न हुए हैं। चन्द्रमा का कलंक मानवमन का कलंक है और उनकी क्षीणता भी मानव मन की क्षीणता है। चन्द्रमा को रसाकर माननेवालों को बड़ी निराशा हुई, यह जानकर कि रस की वहां एक बूंद भी नहीं है। जो कुछ सुंदरता है वह बीहड़ और उजाड़, जीवन का वहां सर्वथा अभाव है। मानव मन का बलिदान उसकी अमृत साधना है। पुराणों के अनुसार कृष्णपक्ष में पितर लोग चन्द्र की एक एक कला पीते हैं और शुक्ल पक्ष में देवता पर चन्द्रमा पिया जाता है। दोनों पक्षों में अमावस्या के दिन उत्सव होता है पितरों का। और पूर्णिमा के दिन देवताओं का। अष्टमी तो चन्द्रमा की एक पहलू मात्र है चन्द्रमा के और भी तो अनेक-कोनेकगोर है सबसे बड़ा तो उसका कलंक ही है जिसे कवियों की कल्पना न जाने कौन-कौन रंग प्रदान करती रही है। जिसका कलंक जितना ही बड़ा होगा उसकी अमर ज्योति भी उतनी ही पूरी होगी। इसीलिए कलंक को महान पुरुष पहले धारण कु करते हैं। स्वयं शशि को सिर पर बिठानेवाले शंकर गले में कालकूट धारण करते हैं। चन्द्रमा कलंक छिपाता नहीं, मन छिपाता है, जो मन नहीं छिपाता वह कृतकार्य हो जाता है। रोहिणी चन्द्रमा की आरोहिणी भी है अवरोहिणी भी है, चन्द्रमा की आश्रिता भी है आश्रय भी। 'होरहा'[६५] शीर्षक निबंधानुसार जिन भूभागों में जड़हन (अगहनी धान) नहीं उपजती वहां माघ दूभर हो जाता है और अभावों के साथ जूझनेवाले किसान का जी 'होरहा' हो उठता है। इसीलिए जब वह अपनी कमाई को नयी फसल में इतनी प्रतीक्षा के बाद आंखों के सामने फलते देखता है तो उसके मन में मधुर प्रतिहिंसा जाग उठती है और अधपके डाल काट-काटकर वह होरहा जलाने लगता है। शिव की पूजा में मानवीय कला के उपादान भी चाहिए। होरी अपने तन, मन, धन की होरी करके मुक्तिधाम में 'हर हर' का बोल लगाते समय, 'गंगे,' पर अटक जाती है। उसे लगता है कि उसके शिवशंकर बहुत श्वसुरालय प्रेमी हो गये हैं, क्योंकि उसकी गंगा दिनबदिन कृषतर होती जा रही हैं। यह शिव की ओर से कुछ सरासर ज्यादती

हो रही है किसी नये मनमोहन की चर्चा की यहां पर आवश्यकता लगती हैं। आज होली के दिन जब गांव-गांव इस नये वसन्त में `होरहा` हो चुका है। होरहा की आग हवा के झोंकों में बुझ गयी है।

`रूपहला धुंआ`[66] शीर्षक निबंधानुसार हरेक प्रपात से धुंआ नहीं निकलता-हर एक धुंआ रूपहला नहीं होता। धुंआ का एक रूप बादल भी है, और वह भी कभी-कभी अपना सर्वस्व दान करने के अनन्तर शरद के आकाश में श्वेतखण्ड बन जाता हैं। शरद की शुभ्र ज्योत्स्ना में जब यामिनी पुलकित हो गयी है और जब इस प्रपात के यौवन का मद खुमार पर आ जाता है और उस खुमारी में, इसका सौन्दर्य सुस्तान में शिथिल बड़ी मुग्धा के वदन मण्डल की भांति और अधिक मोहक बन जाता है, सरिताओं और पर्वतों के संदेश और गायन से मुखरित देववाणी इन प्रपातों के सौन्दर्य के प्रति उपेक्षित भाव रखती है। पर जो मानवमन की दुर्बलताओं से प्रीति रखता है, और उन दुर्बलताओं में भी क्षमता देख सकता है जो मनुष्य की दुर्बलताओं को चुपचाप क्षमा करनेवाली माता-धरित्री की ओर देखकर चलता है, उसे यदि मनुष्य की आकांक्षा का ज्वार मिलेगा तो जलप्रपात ही में। उसे यदि घोर दुर्दिन की जड़ी में कजली की तान उमड़ानेवाले झूले का आनन्द मिलेगा तो प्रकृति के इस चाँदी के हिंडोले में। रूपहले धुंए की आभा बीच-बीच में चमक उठती थी मानो उसके अन्तर के रूप का ज्वार मन्थन के भी मन्थन विश्वमोहन के सांवरे रूप को चुनौती दे रहा है। धुएं को निखरने पर ऐसा लगता है कि पृथ्वी का रूप, स्पर्श, अन्तर्नाद और पृथ्वी की गन्ध सब एक साथ मिलकर एक वाष्प यंत्र में परिणत हो गया हो। `फूल तब पात`[67] शीर्षक निबंधानुसार पहले फूल आते हैं, तब पल्लव आते हैं। तब भौंरे आते हैं और तब कोयल बोलती है इस तरह पहले कोई भी सिद्धान्त हो, कोई भी मत हो, पूर्ण विकसित रूप में सामने आता है। जब नया पंथ मनुष्य को मुक्ति देने के लिए आगे आता है तो मनुष्य के प्राचीन संस्कार भी पुनर्जीवन प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। भगवान कृष्ण जो बुद्ध हो, शंकराचार्य हो, तुलसीदास, रामदास और तिलक हो, प्रत्येक विचारक ने जब जब मनुष्य को उन्नयन की नयी भूमिका दी तब तब उसने पहले अपनी परंपरा को पूर्णरूप में अपने मानस के उपर

में पुष्पित किया । सत्य को जब जब अन्वेषकों ने अवरुद्ध देखा, उसके जाज्वल्यमान मुख पर हिरण्मय पात्र का ढक्कन देखा तब-तब उन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया कि वह ढक्कन खुले, सत्य कौम गति मिले । और सत्य नदी की धार का अनुगामी नहीं बल्कि अग्रगामी बने। इसीलिए पहले फूल तब पात, पहले वाद और फिर विवाद । सत्य का स्वरूप अविच्छिन्न है, अखण्ड इ और निरन्तर है कालिदास के अनुसार वसन्त की सार्थकता आम्रमंजरी में है, आम्रमंजरी की सार्थकता किसलय की लाली में है और किसलयों का अनुराग भी तभी सार्थक है जब यह कोकिल के अनुरंजित कंठ का सौभाग्य पाती है ।

`अमरकण्टक की सालती स्मृति`[६८] निबंध में अमरकण्टक का वर्णन किया गया है। कुछ दूर पातालेश्वर मन्दिर कलचुरि के राजा कर्णदेव का बनवाया हुआ है । इसके बाद हिमालय के बारे में कुछ कहा गया है । बिछुड़न प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आती है,यह बिछुड़न चाहे मनुष्य के श्रेय और प्रेय के बीच में हो, चाहे साध्य और साधन के बीच में चाहे विषय और विषयी के बीच, आत्मा और विश्वात्मा के बीच पर प्रत्येक को इसका अनुभव होता है, और यह अनुभव उसे बराबर पवित्र बनाता है । नर्मदा के प्रपात का वर्णन किया गया है। लगभग सौ फीट ऊंचा, और बरसात के अलावा शेष महीनों में दो धाराओं में विभाजिता है, प्रपात के नीचे कपिल धारा के बाद ही कम गहरा, पर अधिक फैला हुआ दूसरा प्रपात दुग्धधारा का है । सोन और नर्मदा पूर्वराग की लीलाभूमि है । आम की गन्ध बिच्छू के लिए सम्मोहन है, पर स्वयं बिच्छू से भी अधिक उसका प्रभाव साहित्यशास्त्री करे ने माना है । बाद में सोनमुंडा ढाल का वर्णन हुआ है । `कमलमदाकों के देश में`[६९] शीर्षक निबंधानुसार वह देश जहां कमलों के मदाक बसते हैं। जो टैनिसन के शब्दों में-`इस कमलमदाक देश में बसने की कसम खाये हुये हैं ।`गन्ध तो कमल की जब बसी हो तो नाक उस गन्ध से बंध जाती है । दूसरी किसी गन्ध को ग्रहण करने के लिए वह सुन्न हो जाती है । बुद्धिवादी आदमी, तटस्थ भोग के लिए सिरजा जाता है। हमारा काम केवल एक कमल के स्वाद को दूसरे कमल के स्वाद से विलग बतलाना है । नन्हीं-नन्हीं शीशियों में कमल का इत्र रखा जाता है, मोटी नजर से देखने पर शीशियां खाली ही लगती है, गन्ध तो खैर पायी नहीं लेकिन लेबुल काफी पुराने थे। कुछ शास्त्रलिपि में , कुछ ग्रन्थ लिपि में , कुछ उड़िया, ताड़पत्री में मिलते हैं ।

डा० विद्यानिवास मिश्र जी ने कई धार्मिक विषयक निबंध में भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

धार्मिक :

'जयति जन निवासो देवकी जन्मवाद:'[७०] निबंध में भारतवर्ष में जिस उमंग और श्रद्धा के साथ भगवान श्रीकृष्ण का जन्म उत्सव मनाया जाता है उस उमंग और श्रद्धा की एक कहानी है। उनके अनेक नाम, अनेक परिकर और उनके सहचारी भाव भी विविध हैं। प्रतिवर्ष इस आधी रात को उस कारागार की याद आती है, जिसमें वासुदेव और देवकी के रूप में लोकमंगल के धरोहरी बन्दी रहे होंगे। कृष्ण जन्म के समय सात्विक शक्तियों का जितना जागरण हुआ, उतना ही तमस शक्तियों का हास भी हुआ। भगवान के आदेश से कारागार से नवजात शिशु को लेकर अंधेरी रात में वसुदेव मथुरा से गोकुल की ओर चले। शेषनाग ने फणों से उन पर छाया की, और भयानक भंवर वाली यमुना ने श्रीकृष्ण को ले जानेवाले वसुदेव के लिए उसी प्रकार रास्ता दिया जिस प्रकार समुद्र ने विष्णु को स्थान दिया था। दूसरे दिन प्रात:काल गोकुल में बधाइयां बजी और बिना गर्भ धारण किये यशोदा ने पुत्र लाभ किया। भगवान श्रीकृष्ण किसी एक युग के इतिहास के बन्दी नहीं हो सकते, इसीलिए इतिहास के पैमाने से उनको मापने में हम चूक जाते हैं। वे इस प्रकार हमारे लोकजीवन में मिल गये हैं कि किसी के घर में जब पुत्र जन्म होता है तो गीत यही गाये जाते हैं कि नन्दलाल का जन्म हुआ है। इतना ही नहीं श्रीकृष्ण जन्म का सांस्कृतिक महत्व समझाया है। 'शिव जी की बारात'[७१] शीर्षक निबंध में भगवान शंकर के सांस्कृतिक महत्व और उसका भारतीय जनजीवन में स्थान को चित्रित किया गया है। यहां पर शिव बाबा की पहली पत्नी सतीदेवी जलकर मरी, उसके मृत्यु के बाद उन्होंने भूत-प्रेतों से संगति कर ली। 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' चरितार्थ होते ही शिव बाबा ने दीन-दुनिया से वैराग्य ले लिया। यहां पर शिव जी के द्वारा बनायी गयी अन्तरंग कैबिनेट की चर्चा है। इसमें गणेश जी चीफ सेक्रेटरी, भैरव जी रक्षा विभाग सम्हालते हैं, कुबेर वित्त मंत्री, और नन्दी विदेश मंत्री। शिव बाबा ने अपना निर्णय दिया कि देखो भाई दूसरी शादी है, वह भी

एक सुयोग्य पुत्र के होते हुए भी ढलती उम्र में। नारद जी छन्द फन्द में उस्ताद थे, ज्योतिषी बनकर उन्होंने अनजान बालिका पार्वती के मन में शिव जैसे बूढ़े और नीरस पति की स्वामिनी बनने में विश्व की ऐश्वर्य प्राप्ति की ऐसी आशा भर दी कि वह बिचारी सचमुच अन्न-जल तजकर शिव के लिए तप करने लगी। शिव बाबा ने अपनी दूसरी शादी होने के कारण सीधे-सादे ढंग से विवाह करने को कहा। मगर अन्य मंत्रीयों की इच्छा को मंजूर करना पड़ा। किरन डूबते-डूबते बारात हिमालय के दरवाजे पहुंची-तामझाम के साथ सास परछने आईं। वर के सिर पर सांप के फन का मौर, गले में मुण्डों की माला, कटि के नीचे गंजका, कड़ाकड़ा चर्म और एक हाथ में ~~डब~~ डमरू, दूसरे हाथ में त्रिशूल देखते ही, उनके हाथ से सोने की थाली छूटकर गिर पड़ी बाद में विधि-पूर्वक विवाह हुआ। इस तरह शिव जी की बारात का वर्णन किया है। 'बौध्यावतार'[७२] शीर्षक निबंध में बुद्ध का अवतार कैसे हुआ-~~इसके~~ इसका वर्णन किया गया है। इस युग को बौध्यावतार युग कहा गया है। क्योंकि हमारे राष्ट्रीय आचरण पर उनके महान् उपदेशों का गहरा प्रभाव है। बुद्ध ने ज्ञान और कर्म में विशृंखला देखकर ही कर्म पर पुन: बल दिया। भगवान बुद्ध ने सदाचरण की शिक्षा को दूर दूर तक फैलाने का व्रत लिया था। बुद्ध की भाषा बहुत आसान है, बुद्ध ने दर्शन शास्त्रीयों की गुत्थियों को सुलझाने में कोई उपयुक्तता नहीं समझी- बुद्ध साधना में जिस त्रिशिक्षा का उल्लेख है उसमें शील, शिक्षा का स्थान सबसे उपर है और शील के बाद समाधि और समाधि के बाद प्रज्ञा का स्थान है। साधारण जन के लिए पंचशील का उपदेश बुद्ध ने दिया-है। भिक्षुओं के लिये इसके अलावा पांच और शील बताये हैं। बुद्ध के अनुसार मनुष्य जब तक एक अनुशासन में मंजकर योग्य न बन जाय तब तक वह पूर्णरूप से निर्वाण का अधिकारी नहीं होता। 'हिन्दू धर्म की नयी पहचान'[७३] शीर्षक निबंधानुसार धर्म क्या है यह बताया गया है। प्राचीन काल में धर्म के दो आयाम थे पहला सामान्य अर्थात् निर्विशेष धर्म, दिक्कालातीत धर्म, वर्णातीत धर्म या दूसरे शब्दों में सनातन अविच्छिन्न धर्म, वह धर्म जो प्रजाओं को धारण करता है वह धर्म जो मानव मात्र का है, किसी एक जाति, किसी एक भौगोलिक सीमा या ऐतिहासिक दायरे से बंधे लोक का नहीं, धर्म वह प्राणीमात्र

से चर-अचर जगत से मनुष्य को जोड़नेवाला धर्म है । हिन्दू धर्म संकीर्णता की शुरुआत अंग्रेजों के आने के बाद हुई । ऊपर से उन्होंने प्राचीन साहित्य और धर्म के अध्ययन के लिए अपने आदमी लगाये । भीतर -भीतर हिन्दू धर्म को एकदम कठघरे में खड़ा कर दिया । 'हिन्दू जीवनबोध की निरन्तरता साकार होती है गंगा में और अबुद्धिवादी हिन्दू उसी गंगा में मरकर आत्मसात होना चाहता है । एक ओर हिन्दू पुराणों और महाकाव्यों के कथानकों को गप्प घोषित कर श्रीकृष्ण और राधा के ऐतिहासिक जीवनचरित की आवश्यकता पर बल देता है तो दूसरी ओर चमत्कारी महात्माओं के चरणों में अपने को बिठाकर पदोन्नति की कामना करता रहता है । हिन्दू धर्म मतप्रधान नहीं, आचार प्रधान है । हिन्दू जीवन श्रद्धाप्रधान है हिन्दू धर्म संस्था नहीं, संस्थाओं की संस्था है । हिन्दू धर्म का सन्देश, यही है कि व्यक्ति का धर्म स्वनुष्ठित होकर सर्वधर्म का विन्दु बने । इससे अधिक सन्देश की कामना हिन्दू धर्म नहीं करता-इसीलिए वह सर्वजनीन है । 'जयन्ती मंगला काली'[७४] शीर्षक निबंधानुसार दशहरा के त्यौहार का वर्णन किया गया है ।

'जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी,
दुर्गा शिवा क्षमा धात्री स्वधा स्वाहा नमो स्तुते ।।

माना आपकी शिखा लुप्तप्राय है । आपकी लौ शीतल है। एक आँगन के प्रान्तर में बेफसल के बोये हुए जौ की अंखुड़ियों में वह हरियाली भी नहीं है जो जुते हुए खेत में समय से बोये जौ के अंकुरों में होती है । जयन्ती, मंगला, काली, भद्रकाली शक्ति का सूत्रपात है अपने को उत्कृष्ट सिद्ध करने में उत्कृष्ट सिद्धि ही यह शक्ति का गतिरोध है, उत्कर्ष का काव्य परिणाम है, मंगलप्रद होना, दूसरे का कल्याण करने में समर्थ होना। काली जिसका विनाश करती है, उसके लिए भी भद्रकर स्वस्तिकर होती है । अमंगल का नाश अमंगलकारी के कल्याण की भावना से होता है । जयन्ती का चरम उत्कर्ष है स्वाहा में आत्म विस्तार का चरम परिणाम है । आत्मत्याग में । यही भारतीय शक्ति साधना का सहज क्रम है जिसके बिना शिव को पाना स्वप्न ही समझना चाहिये ।

वह जनशक्ति रूपाणि सीता लोकरंजन में रमे हुए महामानव की प्राणेश्वरी थी। जन-जन में भावित परमपरमेश्वर की शक्ति है जो युग-युग की शक्ति है, जो देश के कण-कण की शक्ति है। यह दशहरा ~~अ~~ केवल तमाशा है। यह विजया आत्म पराजय की बेला है, और यह उल्लास कुण्ठा का आवरण है।

'नम: शिवाय'[७५] शीर्षक निबंध के अनुसार शिव क्या है ? निबंधकार कहते हैं शिव को या तो प्रकृति के रूप में देखो या सुन्दरतम कला में देखो। जब हम नम: शिवाय कहते हैं तो हम इस पार्थिव सृष्टि को नमस्कार कहते हैं इस पार्थिव सृष्टि के मूर्धन्य मानव के चरम उत्कर्ष को नमस्कार करते हैं- जिसमें जीवन को शिवमयता की दीक्षा दी। नारी पुरुष की दुर्बलता है, इस असत्य का खण्डन करनेवाली अर्धान्गिवासिनी उमा की सुकुमार अंगभक्ति स्फुरित हो जाती है। युगों-युगों से नम- नम: शिवाय हमारी संस्कृति का मूलमंत्र है। शिव की प्रतिष्ठा समन्वय, सामंजस्य और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा है। शिव की आराधना भारत के चेतन पुरुष की आराधना है। शिव के अजिर में समस्त विधाएं, समस्त सिद्धियां, समस्त शक्तियां, समस्त साधनाएं समस्त कलाएं जुट सकते हैं। 'धीरे-धीरे मुरली बजाऊ'[७६] निबंध में 'नन्दक नन्दन कदम्ब तरुतल धीरे धीरे मुरली बजाऊ' उस कदम्ब का पुराना इतिहास है। आजकल गांव में नवमी पूजा साल दर साल कम होती जा रही है। निबंधकार के अनुसार बांसुरी का युग न जाने कितना पीछे छूट गया। यह तो नगाडों से भी आगे दमामों ~~व~~ का युग है, बांसुरी उपवन की नहीं बन की, आंगन की नहीं गगन की और तन की नहीं मन की चीज है। देशकाल की सीमाओं को लांघकर अपनी अनुगूंज भरनेवाली बांसुरी सुनसान और वीरान अंधियारी में भी गूंज उठती है, तो क्या बांसुरी की तान केवल सम्मोहन है ? अस्पन्दन गतिमात्र है। उसे परब्रह्म की पराशक्ति मानने का अर्थ यह नहीं होता कि वह कोई अनुभव ~~क~~ से विलग, स्पर्श से विलग, जगत से विलग और उसके सुख-दु:ख से विलग वस्तु है। कोरी आध्यात्मिकता एक रीति और ~~मधुर~~ अधूरी कल्पना है जिसमें भटका व जितने मिले, तृप्ति नहीं मिल सकती। डाह भरी गोपी और डाहभरी बावली दुनिया को

सूर द्वारा मुरली ने अपनी प्रेम-साधना का मर्म समझाया भी है कि विश्व के परमानन्द का रसपान करने के लिए उलाहना देने के पहले यह समझना चाहिए कि मुरली को अधरशय्या मिली है। वह तपस्या, त्याग और साधना के कारण । `राधा माधव हो गयी`[७७] निबंधानुसार उस जमाने में दो भूत बड़े जबरदस्त थे । एक तो ब्रह्म का, दूसरा था पश्चिमी कूंठी नैतिकता के आग्रह का । गीत गोविन्द को भक्ति का ग्रन्थ मानने के लिए पढ़ा-लिखा तर्क बुद्धि आदमी तैयार नहीं होता था । राधा नाम भागवत में आया या नहीं, राधा भाव ही भागवत की पराभूमिका है, यह न होता तो भीष्म, शुकदेव, नारद, उद्धव जैसे तत्वज्ञानी को भी यह स्पृहा क्यों होती ? भागवत को मनुष्य की अनन्त भाव यात्रा का प्रक्रिया धर्म माना गया है और यहां इसी रूप में इसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा है । भगवत परायण व्यक्ति का शरीर दूसरे के लिए है उस शरीर पर उसका अपना स्वत्व नहीं रहता । इसका ज्ञान, प्रकाश, अच्छाई तो हर एक दे सकता है और बड़े सच्चे भाव से दे सकता है, पर अपना मोह, अपना अन्धकार और अपनी भीतर की बुराई अपने प्रिय को देने का साहस नहीं होता, पर अपने को बिलकुल पराया मानकर और उनको अपना मानकर जब दिया जायगा तो फिर दुराव नहीं रह पायेगा । भागवत धर्म ने सबसे ऊंचा, आसन इस मोहान्ध और तामस प्रेम के मार्ग से प्रभु की प्राप्ति को दिया है, इसका भी चरम उत्कर्ष है । `राधा भेलिमधाई` वाला भाव । एक राधा दूसरा माधवा राधा माधव के कलिनिकुंज के अंधकार में घटित होकर उतनी सार्थक नहीं, जितनी राधा के मनोमंदिर में एक राधा चित्त के दो राधा माधव भावों की एक दूसरे को पाने की उत्कट विह्वलता में भावित होकर सार्थक है ।

`मेरे राम का मुकुट भीग रहा है`[७८] शीर्षक निबंध में आनेवाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट मात्र से उद्विग्न हो जाती है । आज भी काशी की रामलीला आरंभ होने के पूर्व एक निश्चित मुहुर्त में मुकुट का ही पूजा सबसे पहले की जाती है । आज भी वनवासी धनुर्धर राम लोकमानस के राजाराम बने हुए हैं । राम ने राजकीय वेश उतारा, राजकीय

रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में ही था, कौशल्या के मातृस्नेह में था, वह कैसे उतरता, राम भीगें तो भीगें- मुकुट न भीगने पाये, इसकी चिंता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमर दुपट्टा भी न भीगने पाये और अखण्ड सौभाग्यवती सीता की मांग का सिंदूर भी न भीगने पाये, सीता भले भीग जायें। इस मुकुट दुपट्टे और सिंदूर के भीगने की आशंका आज भी साल रही है। इस देश की ही नहीं पूरे विश्व की एक कौशल्या है, जो हर बारिस में बिसूर रही है ' मोरे राम के भीजे मुकुटवा ? राम भीगें तो भीगे, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे। वह हर बारिश में, हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला करानेवाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें, पर नर रूप में उनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, पानी की बूदों की झालर में उसकी दिप्ती न छिपने पाये। राम का निर्वासन वस्तुत: सीता का दुहरा निर्वासन है, राम का मुकुट इतना भारी हो उठता है कि राम उस बोझ से कराह उठते हैं और इस वेदना के चीत्कार में सीता के माथे का सिंदूर और दमक उठता है। अयोध्या उदास लगती है। सही बात यह है कि हिन्दू धर्म के प्रति हमारी आस्था में कहीं ठहराव नहीं है। हिन्दू धर्म एक जीवंत उच्छ्वास है, हिन्दू देवी देवता का आराधक भी है। जिस प्रकार रघुवीर के बिना अयोध्या उदास हुई, वे रघुवर आज भी सीता-लक्ष्मण को लिए चित्रकूट में घूम रहे हैं। जाने कितनी अयोध्याएं हैं, कितने चित्रकूट है। राम ने बहुत अरसे से अयोध्या छोड रखी है, कृष्ण ने मथुरा छोड़ रखी है, इन राजधानियों में इन संस्थानों में राम या कृष्ण नहीं मिल सकते। ऐसे राम-कृष्ण के पीछे बावला हिन्दू धर्म जीवन धर्म है इसमें जन्मतिथि ही जयंती के रूप में मनायी जाती है, पुण्यतिथि केवल पिता की मनायी जाती है। पहले देश में मृत्यु पूजा प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। राम रचना नहीं, कल्पना नहीं, इतिहास नहीं, मूर्ति नहीं, रचना की प्रक्रिया, कल्पना की छटपटाहट है, इतिहास की बदलती हुई व्यवस्था है मूर्ति अधूरेपन की जागरूक स्मृति है।

'तुम चन्दन हम पानी'[७६] शीर्षक निबंधानुसार कुछ लोग 'प्रभु जी तुम चन्दन

हम पानी' कहकर मानव की क्षुद्रता और दुर्बलता को गौरव देना चाहे और कहे कि जरा सा उल्टा दिया बात तो यही है। चाहे खरबूज गिरे छुरी पर या छुरी गिरे खरबूजे पर। यहां पर युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का उदाहरण देकर भक्त और भगवान अर्थात् श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेम बताया गया है भगवान ने पहले नारद से कहा मेरे सिर में भयंकर पीड़ा हो रही है- दवा लाओ, भक्त के चरण की धूलि में ही इसकी दवा है ऐसा कहा गया नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, हनुमान से चरण धूलि लेने गये सभी ने इनकार कर दिया और खुद नारद ने भी। जबकि नारद जी गोपियों के द्वार गये तो गोपियों में चरण धूलि देने की होड मच गयी। इसी से सच्चा भक्त गोपियां ठहरी। युधिष्ठिर का यह राजसूय केवल एक राज्य वैभव का प्रदर्शन नहीं है। वह आनेवाले युग के निर्माण की तैयारी है, अतीत के त्यागशील गौरव का स्मरण है। यह वर्तमान युग को उसका यथार्थ दर्शन करानेवाली दर्पण है। निबंधकार के अनुसार कृष्ण ही सब प्राणियों की अन्तरात्मा है। वे सब प्राणियों को अपने से अन्य नहीं समझते। इस राजसूय यज्ञ के बाद ही जुआ हुआ, पाण्डवों का बनवास हुआ। उन्होंने कई ऐतिहासिक निबंध भी लिखे जिनमें भारतीय इतिहास पर उन्होंने अपने विचार प्रदर्शित किये हैं।

ऐतिहासिक :

'परम्परा बन्धन नहीं'[80] निबंधानुसार परम्परा का अर्थ है पर के भी जो पर हो, श्रेष्ठ से भी जो श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो, न भविष्यत, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरन्तर साध्य हो, यह इतिहास चक्र के व्यूह को तोड़ती चलती है। इतिहास मनुष्य को ~~कर कहन-और~~ काला देश और जाति में आबद्ध मानकर चलता है। इतिहास की व्याख्या बदलती रहती है। इस देश का तथाकथित बुद्धिवादी, इस देश के सामान्य जन की आकांक्षा और सम्भावना को छू नहीं पाता। शासक और शासित के बीच एक गहरी खाई है, उद्योगीकरण और कृषि के बीच भयंकर सन्तुलन है। परंपरा में मनुष्य की सिद्ध वस्तु के रूप में पूजा नहीं होती। व्यक्ति की निरन्तर उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर रचना होती है। देश के लिए हिन्दुस्तान, जाति या मजहब के लिए हिन्दू

के प्रयोग भी जिन लोगों के द्वारा पहली बार किये गये वे बाहरी थे। भारत एक विशेष परंपरा का वाचक है, इसीलिये उसकी धारणा के भीतर बृहत्तर भारत भी समा सका। इतिहास तो स्वप्न देखता है कि सारे विश्व का एक मजहब होगा और वह ईसाईयत ही है। इतिहास और परम्परा में से एक ही को चुना जा सकता है। परम्परा प्रतिशोध पर नहीं, सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा पर बल देती है। हम हिन्दू परम्परा को यदि आत्मसात करते हैं तो सबसे पहले इतिहास के मसान जगानेवाले ओझाओं, सोख्याओं को बाहर करें। हमारी परंपरा काल या देश को मनुष्य में स्थित देखती है। 'महाभारत का सत्य'[८०] निबंधानुसार महाभारत आज के अर्थ में इतिहास नहीं है, वह सामने देखी गई घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन नहीं है, तब उसमें वर्णित सामग्री का परीक्षण इतिहास की सीमित दृष्टि से करना सरासर अन्याय होगा। महाभारत के तीन नाम मिलते हैं जय, भारत और महाभारत। 'भारत' के बारे में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह २४ हजार श्लोकों का था इसमें आख्यान जोड़े गये तब यह एक लाख श्लोकों का हुआ। और तभी इसका नाम 'महाभारत' पड़ा। महाभारत परम्परा की सृष्टि होने के कारण ही एक समग्र रचना है। वह अपने आप में स्वयं एक महान वृक्ष है, भारतीय परम्परा ने महाभारत और रामायण को सत्य के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। महाभारत की घटना की तिथि पूरे महाभारत के सत्य के आगे बहुत नगण्य है। महाभारत का वर्ण्य विषय मूलरूप में युद्ध नहीं है, वह है एक राजवंशों की दो शाखाओं की कहानी के माध्यम से एक व्यापक, धार्मिक-सामाजिक और आध्यात्मिक नैतिक सत्य की प्रतिष्ठा। इसके प्रारंभ में दो वृक्षों की कल्पना की गई है, एक वृक्ष है दुर्योधन, दूसरे युधिष्ठिर, मृत्यु के तीन रूप महाभारत में मुख्यत: दीखते हैं।

'भारतीय इतिहास बोध और भारत का प्रबुद्ध मानस'[८१] शीर्षक निबंधानुसार इतिहास के सम्बंध में आधुनिक भारतीय मानस में एक संकोच का भाव आ गया है कि प्राचीन भारतीय चिंतन अनैतिहासिक चिंतन होने के कारण शायद कुछ अप्रमाणिक या कुछ प्रामाणिक ठहरा दिया जाय। हर संस्कृति का इतिहास बोध उसके कालबोध से जुड़ा हुआ है।

वस्तुत: कालबोध एक प्रागैतिहासिक प्रतीति मात्र है । वर्तमान भी वास्तविक रूप में सत् नहीं है । भारतीय प्रतिमा इतिहास को स्वीकार करती हुई भी इतिहास के आतंक को जरूर नकार देती है, क्योंकि इतिहास तभी आतंकित कर सकता है, जब वह कार्य, कारण, परंपरा को जन्म दे- जब इतिहास स्वयं किसी महत्तर उद्देश्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हो, तो वह आतंक नहीं उत्पन्न कर सकता । पश्चिमी चिंतन में इतिहास के प्रति आबद्ध भाव ने ही एक निश्चित और ध्रुव मानक जीवन मूल्य की अवधारणा पर विशेष बल दिया है । इस प्रकार भारतीय चिन्तन में इतिहासबोध एक सीमित मानवीय संदर्भ से जुड़कर पुराण बोध में परिणत हो जाता है ।

श्री मिश्र जी ने अपने कई संस्मरणों को निबंध में प्रस्तुत किए हैं ।

संस्मरणात्मक :

'मैंनेसिल पहुंचाई'[83] शीर्षक निबंध में 'मैं' का माध्यम लेकर व्यक्ति का महत्व समझाया है । निबंधकार को उनके एक मित्र ने काम बताया था कि इलाहाबाद में सिल रख छोड़ी है इसके अलावा एक ट्रंक है जो निबंधकार को स्टेशन जाते वक्त ले जाना है । यहां पर बताया गया है कि निबंधकार जब एक बार सिल न ले गये तो मित्र को निराशा हुई, दूसरी बार जब याद करके ले गये तो इसको अनावश्यक बताया गया। इस तरह आदमी किसी का काम करता है, तो भी कुछ प्रोत्साहन नहीं पाता, और नहीं करता तो उस पर दोष डाल दिया जाता है । सिल पहुंचाने का यह अद्वितीय अनुभव भी व्यर्थता की चुभन दिये बिना न रहा, मैंने(निबंधकार ने) सरकारी नौकरी दो-दो बार की तब भी यही सिल सिर पर सवार थी । सरकारी छिनहरों की छैनी से छिन-छिनकर योजना की सिल तैयार होती थी । इस सिल की ही पूजा करके नई बहू घर में प्रवेश पाएगी। यह सिल आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक सुख-सु समृद्धि की आधार शिला है । यहां सिल पहुंचाने का अर्थ है तुम खुद दूसरे से सिल पहुंचाने का रोजगार संभालो । यहां आकर अपने को ही नहीं अपने में अमरत्व का जो अंश है उसे भी शव बनाना है

ही सिल साधना का प्रथम चरण है। धड़कन ही हमारे लिए एकमात्र आश्वासन है, आक्रोश एक मात्र सुख, मिल तो सिल वह लौढ़ा, यह नहीं प्रभुता तो और दुर्बह है। 'प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जायगी' शीर्षक निबंधानुसार हरिश्चन्द्र ने भाषा और साहित्य को अलग करके देखा, और एक भाषा के लिए लड़ाईं लड़ते हुए भी उन्होंने सम्पर्क में आनेवाले सभी साहित्यों को खुले खजाने में जाकर लूट मचाने का न केवल उपदेश दिया, बल्कि वे स्वयं इस डकैती में अगुआ बने। संस्कृत, बंगला, उर्दू, गुजराती और मराठी किसी को छोड़ा नहीं। सब साहित्यों से लिया और सबको अपनी/भेंट दी। शहर के अन्धेरों से दुबला रहनेवाला जीवन उनमें नहीं था। आज प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी मर गई है। उनके सर्वग्राही प्रेमधर्म को उनके बाद के चार जनों ने समझा- प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधव मिश्र, पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने। उन्होंने भाषा की सजीवता का मर्म समझा। उनके भाव ऊंचे होते हुए भी इसलिए ऊंचे नहीं जान पड़ते थे कि वे पहुंच में आनेवाले नहीं हैं। आज के साहित्यिक में न तो उसके व्यक्तित्व का दर्शन मिल सकता है और न सामाजिक समस्या का ही। नवीनता की उद्भावना में वह न नीरस हो जाता है। मनोविकृतियों और मनोग्रंथियों के चित्र उतारते आज का कलाकार साहित्यिक स्वस्थता और सहजता एकदम गंवा बैठता है। 'सक्तून्पिब देवदत्त'[८४] शीर्षकानुसार अर्थ है 'देवदत्त सतुआ पिओ' बेचारे को सतुआ भी भरपेट कोई खिलाना नहीं चाहता। सतुआ भारत के राष्ट्रीय पेयों में से अनादि काल से प्रमुख है। देवदत्त की मोटाई भी अनदेखन नैयायिक लोगों से न सही गयी और तर्क-वितर्क में पड़कर ये लोग विचार करने लगे - देवदत्त मोटा है, दिन में खाता नहीं तो क्या बात हो सकती है? हो न हो रात में भण्डारघर में चोरी-चोरी पैठ तरमाल या बर्तन पर हाथ साफ करता है और सबेरे कुत्ते-बिल्ली के उपर खेल जाता है। सो ऐसी पाठशाला है और ऐसे गुरु जी हैं जिनसे अपने देवदत्त निष्ठ पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान कराने मैं चला; वहां देखा कि देवदत्त तो इन्हीं गुरु जी में विराजमान है। बी०ए० एम० ए० करनेवाले इस अधम शरीर में भी देवदत्त तत्व समासीन है। देवदत्त व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है यह तो जातिवाचक संज्ञा है।

'मेरी रूमाल खो गयी'[८५] शीर्षक निबंध में निबंधकार अपनी याद शक्ति के बारे में बात करते हैं, उनके अनुसार कोई सफर ऐसा नहीं जाता जिसमें कोई न कोई चीज कहीं न कहीं गुम न हो, कभी धोती, कभी गिलास, कभी जूता, कभी शीशा, कभी कलम, कभी किताब, कभी-कभी सुयोग्य गृहिणी ने मेरी इस भुलक्कड़ प्रकृति पर नियंत्रण पाने के लिये पुराने नुस्खे अजमाये हैं। मसलन् रूमाल में ही गांठ बांध देना। पर हुआ क्या है रूमाल निगोरी ही रास्तेम में गिर गयी है। आज रूमाल खोने की घटना निबंधकार को कुछ बड़ी दीखने लगी है, क्योंकि यह रूमाल किसी वैसी घटना नहीं यह तो निबंधकार की जीवन यात्रा का वास्तविक लक्ष्य है। यहां पर पूरा प्रसंग देकर उक्त बात प्रस्तुत की थी। यह रूमाल फटका हुआ रूमाल नहीं था। उधार लिया हुआ भी नहीं। मुझे पता है मेरे उपर तरस खाकर कुछ लोग उस खोया हुआ रूमाल का पता लगाने में मेरी मदद करना चाहेंगे मैं उनके प्रति बहुत आभारी हूं। यह किसी मामूली खादी का टुकड़ा है। नया है या किसी पुराने कपड़े का दुरावशेष है, इसकी भी गारण्टी नहीं दे सकता। समझ में नहीं आता कि मैं किसको कोसूं? 'राष्ट्रपति की छाया'[८६] शीर्षक ~~निबंध~~ निबंध में जब राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद का आगमन मार्च १९५३ में विन्ध्यप्रदेश में हुआ। अपने विभागीय कर्तव्य के कारण निबंधकार को भी टीकमगढ़ से लेकर अमरकण्टक तक उनकी छाया के पीछे अनुधावन करना था। उनका यह अनुधावन बेजोड़ था, जैसे चन्द्र... या चन्द्रमा की छाया पकड़ने की कोशिश कोई नाव में बैठा हुआ व्यक्ति करे। वैसे ही उनकी कोशिश थी। यहां पर इस प्रसंग को ~~नि~~ निबंधकार ने अपने संस्मरण रूप में टांका है। इस दौरे में जो कष्ट हुआ वह तो बहुत कुछ बिसर चला है पर मनोरंजक क्षण अब भी बहुत ताजे हैं, पत्रकार एवं साहित्यकार वर्ग के लोग ही अधिक थे। प्रस्तुत किये गये लोकगीतों के श्लील अश्लील विविध रूप, उन्मुक्त परिहास और रेखागणित की विभिन्न आकृतियों की सृष्टि करती हुई, राष्ट्रपति के आगमन की ~~विभिन्न~~ वेला समीपतर जानकर टीकमगढ़ के सर्किटहाउस की झलक तक पहुंचने की अधीरता में मोटर चल पड़ी। यह विन्ध्यप्रदेश का आदिवासी क्षेत्र था और जो उत्साह नागरिकों में नहीं पाया वह यहां के बनवासियों में मिला। 'ईकाई बनाम दुहाई' शीर्षक निबंध

भाई चन्द्रदेव का संबोधन करके लिखा गया निबंध है । तुम इँकाई के लिए ललित निबंध मांगते हो तो मैं बुव्हें कैसे तुम्हें समझाऊं कि अब लिख नहीं पाता । कोलाहल के बीच आजकल अनाकुल नींद सो रहा हूं। जगने की कोशिश भी करना चाहूं तो मेरे मन का पंछी पंख समेट लेता है । लिखने की लाख कोशिश क भी करूं तो क्या लिखूं ? यही उभर नहीं पाता है । सुबह होती है पर मन के छन्द-घर यात्री मिल नहीं पाते । शाम आती है, पर बिलगाव हने भी नहीं- हिलग नहीं पाता । दुपहर की धूप तेज होती है, पर छांह की चाप नहीं होती । निशीथ की बेला अब भी लहकती है, निबंधकार कहते हैं कि जिसे-म- जिसे मैं परतों में लपेटकर रखे रहना चाहता हूं, यह बाबू जी, मां, बाबा की बड़ी बहू है, दादी की दुलहिन है, दादा की बुबई है पर तुम्हारी कौन है ? मनोविज्ञान बहुत कम पढ़ा है केवल उतना ही जितना भाषा विज्ञान में काम आता है- सही बात समझाऊं तो कैसे और झूठ बोलकर अपनी ही आत्मजा को बहकाऊं भी कैसे ?

भाषा शैली :

भावात्मक भाषा शैली :

छितवन की छांह, हरसिंगार, टिकोरा, होरहा, नीम, आम्रमंजरी, आंगन के पंछी, बहती नदियां(ये विपथगाएं) , फूल और पात, शिरीष- हिमालय इत्यादि मिश्र जी के लिए केवल प्रकृति के विभिन्न रूप नहीं। ये अनेक भाव-भावनाओं के जागृत प्रतीक बन जाते हैं ।

`छितवन पार्थिव शरीर के यौवन का प्रतीक है, उसकी समस्त मादकता का, उसकी सामूहिक चेतना का, उसके नि:शेष आत्म समर्पण का और उसके निश्चल और शुभ्र अनुराग का` ।[87] परन्तु `मरघर के श्रृंगार` इस फूल की छाया से लोग मानते हैं, क्योंकि वह पुण्यमय करती है परन्तु लेखक के लिये वही छाया छायापुरुष से महान है। `वह केवल मिट्टी के शरीर का उत्कर्ष है और शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर उसका एकमात्र अवशेष ।` इसीलिए इसकी छाया में जानेवालों को लेखक की चेतावनी है",---"

'संभल के आना, सोच-विचार के आना, अपना सुकृत लुटा के आना और आना तो फिर रोना नहीं,' इस पार्थिव साधना में जिसका दूरा रूप सच्ची साहित्य साधना ही है, दु:ख की आशा करके आना, और तब अनंत मस्ती लहराती मिलेगी जहां आने पर लौट के जा न सकोगे, श्रुति पुकार रही है ------- न स -पुनरावर्तते-------'[८८] बरसात के ~~अर्थ~~- उत्तरार्ध का हरसिंगार सात्विक प्रेम की असली पहचान है। काम है उसका 'जीवन के नीरव निशीथ में- विरह के अनंत अंधकार में और निराशा की विराट नि:शब्दता में धीरज के ललौहे फूल बरसाना -------घनघोर श्यामल रंग के फैलाव में ललघही बुन्दी छिटकाना'[८६]------- एकोन्मुख प्रेम की मृत्यु को बहुन्मुख जीवन का प्रसार देना------- ।'[९०] कच्चे टिकोरे के भाग्य में लिखा है केवल बलिदान करना। व्यवहारवादी और उपयोगिता वादियों को छदराघन के सौन्दर्य से कोई लैना देना नहीं। उन्हें गिनती के पेड़ चाहिये। पेड़ की रक्षा के लिये ही टिकोरों भरी डालें फहराई जाती हैं। परन्तु लेखक इन कच्ची अमियों को संजोकर रखना चाहता है, क्योंकि रसाल की परिणाति की इस दिशा में ही वह उनकी सच्ची सहकारी मानता है। 'नीम' तीता है, पर परिणाम में मधुर है। लेखक को परहैज है तिताई से। पर आंवले कषाय से नहीं। क्योंकि कडुवेपन की अशांति उसे कषाव से मिलती है, 'कषाय की यही विशेषता है कि वह तिक्तता का परिशोध तो करती है। साथ ही वह ऐसी स्वादभूमि तैयार करती है कि उसके बाद अस्वादु चीज भी ली जाय तो वह मधुर प्रतीत हो।'[९१] लेखक आंवले की इस मधुकारिता को साहित्य की विशेषता मानता है।

परम्परा को मिश्र जी ने कहीं छोड़ा नहीं है। इसीलिये वे आवश्यक मानते हैं। दिये बाती का मेल को क्योंकि '-------दिया चाहे माटी का हो, चाहे विज्ञान का, दिया-बाती का मेल जरूरी है तभी उसमें शीतल प्रकाश की आशा की जा सकती है।'[९२]

भाषा इन निबंधों में मिश्र जी की सर्वत्र आकर्षक, लयबद्ध, छंदोमय एवं अलंकृत रही। भाषा का यह आकर्षक रूप वर्तमान युग में अपना सान नहीं रखता।

अलंकार, लय, विचार एवं भावों का सगुम्फन, चित्रात्मक प्रभाव आदि के लिए कुछ उदाहरण यहां है जैसे कि -'मेरे कुसुमित यौवन के दूसरे मोड़ पर का यह साथी, अब त तक न जाने कितने प्रणय कलहों की तपन के बीच, न जाने कितनी विकृत जीवन की दुर्गन्धों के बीच और न जाने कितनी विरसताओं के बीच स्नेह की समरसता का संबल देता रहा है। तब से न जाने कितनी बार दिये में स्नेह भरा गया होगा। न जाने कितनी बाती पुरी गयी होगी और न जाने कितना तम हरा गया होगा। पर जीवनदीप की अखण्ड ज्योति की प्रेरणा मुझे मिली है। इस दूसरे कितवन की छाया से।'[६३] 'आम अगर बौरायेगा तो अमरानन्द को भी बौराने का हक हासिल है। पलाश की आंखें मद में चढ़ेगीं तो भ्रमरानन्द को भी नशा करना आता है, दक्षिण पवन में अगर तरुगण झूम सकते हैं तो भ्रमरानन्द का मूड भी लोहे में तो जड़ा नहीं है कि हिल भी नहीं सकता। किसके बाप की ताव है कि भ्रमरानन्द को उत्सव मनाने से रोक सके।'[६४] प्रश्न यह है कि नवीनता की शुरुआत कहां से मानी जाय। नवीनता के राष्ट्र मनुष्य की शुरुआत कहां से ली जाय और इस निर्माण को किस आधार पर खड़ा किया जाय? 'आज प्राचीनता का विश्लेषण करना पुण्य है। जंगल को और उपवन को बुलडोजर से नये सिरे से तोड़ना पावन कर्तव्य है। आज लोक संस्कृति की सीता को आधुनिकता के रंगमंच पर लाना एक बहुत बड़ा परोपकार है। आज प्राचीन साहित्य और कला की कृतियों को अपने कमरे में सजाकर रखना एक फैशन है। पर उनकी पुकार सुनना, उनके प्राणों को संस्पृष्ट होना उनकी साधना में तन्मय होना पाप है। यहां कैसा विवेक और कैसा न्याय है?'[६५]

नाटकीयता, संदर्भशीलता, कथा-कौतुकी वृत्ति, रसवक्ता-गंभीरता, सहज पांडित्य, अलंकृतता, आस्था एवं सहृदयता मिश्र जी की भावात्मक शैली के प्रधान गुण है। और व्यक्ति व्यंजकता इनमें शीर्ष स्थान पर है। मिश्र जी के ये निबंध हिन्दी साहित्य के लिये सदैव गौरव की निधि माने जायेंगे।

वर्णनात्मक भाषा शैली :

`कदम की फूली डाल` के यात्रा खण्ड में पं० विद्यानिवास मिश्र जी के वर्णनात्मक शैली से युक्त निबंध हैं। विन्ध्य की विविध रूपा, भूमिका उनके इन निबंधों में साकार है । विन्ध्य के सौन्दर्य दर्शन से आकलित उनके अनुभवों ने वहां की प्राकृतिक, और सांस्कृतिक सम्पदा के मनोरम चित्र शब्दों में बांधकर उतार दिये हैं । कल्पना, अनुभूति और विचार से युक्त ये चित्र अत्यन्त सजीव बन पड़े हैं । `मुकुट मेखला और नुपूर`, - राष्ट्रपति की छाया , रूपहला धुंआ, कलचुरियों की राजधानी गुर्गी, रेवा से रीवा, होईं है शिला सब चन्द्रमुखी, विन्ध्य की धरती का वरदान, निबंध मुख्यत: विन्ध्याचल से संबंधित हैं ।

विद्यानिवास मिश्र की वर्णनात्मक शैली केवल स्थलों एवं व्यक्तियों के सौन्दर्य-वर्णन में ही सिमट नहीं जाती, वह उस अंचल में पलनेवाली धार्मिक एवं सामाजिक आस्थाओं एवं विश्वासों का भी संकेत करती जाती है । इन सब वर्णनों में विवरणों में मिश्र जी का कलाप्रिय, भावुक, प्रकृतिप्रेमी उन्मुक्तमन डोलता रहता है । अत: ये वर्णन केवल वर्णन नहीं रहते वे एक गीत बन जाते हैं । मिश्र जी के वर्णन में ऐसे सांस्कृतिक सटीक सन्दर्भ प्रचुर प्रमाण में उपलब्ध होते हैं । उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति वर्णनात्मक शैली से युक्त इन निबंधों में स्थान-स्थान पर दिखाई देती है । प्रकृति के प्रति परम अनुरागी उनके व्यक्ति तत्व का प्रकृति के प्रति परम विरागी वृत्ति के लोगों को देखकर झल्ला उठना स्वाभाविक था परन्तु यह झल्लाहट भी उनके व्यक्तित्व के अनुरूप प्रकट हुई है यथा- `चांद अपनी मस्त पर, प्रपात अपनी मस्ती पर, रात अपनी मस्ती पर, मन अपनी मस्ती पर और शेष सब चीजें एकदम विच्छिन्न- वहां पहुंचते-पहुंचते ही मेरे दो तरुण मित्रों को छोड़कर दूसरे लोग एकाध घण्टे में ही सौन्दर्य निहारते- निहारते उबकर सो गये । उबते क्यों न ? वे तो जिन्दगी कने का नेह सोखनेवाले तेलचटा ठहरे- उन्हें बाजार की सौदेबाजी से, लेनदेन से, शोरगुल से, और नकद-उधार से इतनी प्रीति

हो जाती है इतना मोह हो जाता है कि उनसे एक क्षण भी बिछोह दु:सह हो जाता है। ऐसे लोगों को प्रकृति के सौन्दर्य से जबरदस्ती अनुराग करना पड़ता है और यदि अनुराग करते भी हैं तो वे दूसरों का अनुराग बिरस कर देते हैं।'[९६]

वस्तुत: प्रकृति के प्रति उनकी यह अगाध निष्ठा और प्रेम ही उनकी वर्णन शैली में सरसता, प्रवाह और मस्ती उड़ेल दी। अनेक स्थानों पर छोटी-मोटी घटनाओं का इतना सजीव वर्णन लेखक ने किया है कि पूरा दृश्य आंखों के सामने चित्रवत् खड़ा हो जाता है उदाहरण के लिये- 'दोनों स्थानों पर हम लोगों ने अत्यन्त परितृप्त होकर स्नान किया। साथ ही महिलाओं में एक तो शरीर के भार से और उस भार से भी अधिक अपार भय के भार से दर्शक मात्र बनी रहीं। दूसरी ने किसी प्रकार बहुत हिम्मत दिलाने पर और धर्म के संचय के मोह से कपिलधारा की विषम धार के नीचे दो तीन मिनट जल की वर्षा सही, और तीसरे ने अत्यन्त उत्साह और उमंगपूर्वक विशुद्ध ग्राम्य उच्छृलता के साथ बार-बार बरसने पर भी नर्मदा की सारी शक्ति अपने में भर लेने की दिलावरी दिखलायी और इन सबसे अधिक उन्मुक्त और उन्मोहित भाव से एक अन्य जोड़ी ने फोटो खिंचवाते खिंचवाते स्नान किया और इस जोड़ी की सहज प्रेम साधना को हम सबने नतमस्तक होकर वंदना की।'[९७] भाषा इन निबंधों में मिश्र जी की सर्वत्र संस्कृतनिष्ठ, तत्सम्प्रधान रही है, स्थान-स्थान पर उन्होंने वर्णन के अनुरूप कभी धारा शैली, कभी प्रलाप शैली तो कभी प्रसाद शैली का प्रयोग किया। साधारणत: उनकी वाक्य रचना दीर्घ तथा अलंकारयुक्त और नादमय है इन गुणों के निम्नांकित परिच्छेद को देखा जा सकता है जैसे कि-

'जिस प्रकार कमल में रंग की शोखी नहीं होती, गन्ध की मादकता नहीं होती, स्पर्श का छुईमुईपन नहीं होता, और जिस प्रकार उसका सौन्दर्य बाहर से भीतर की ओर अधिक विस्तृत होता चला जाता है और जिस प्रकार उसके गर्भ गृह में सुनहरे केशरों के बीच में अलि अपना स्वर खो देता है, उसी भारतीय कला का सौंदर्य भी वर्णाधिक्ता में नहीं, उद्दाम विह्वलता में नहीं, स्पर्श न सहनेवाली सुकुमारता में नहीं और बाह्य

आवरण की मोहकता में नहीं, बल्कि रंग के एक क्रमिक घुलन में, गंध के स्थायित्व में, स्पर्श की असम्पृक्तता में तथा अन्तरोन्मुखीता में और अन्तर्नाद की साधना में है।[९८]

सौंदर्य वर्णन के संदर्भ में चिंतन की ऐसी सहज झांकियां मिश्र जी ने अनेक स्थानों पर दी है। उनकी वर्णनात्मक शैली एक ही समय में साहित्य, कला, इतिहास, प्रकृति एवं तत्वज्ञान के अनेक जाने-अनजाने संदर्भ लेकर विकसित होती रहती है। वर्णन की बारीकी उनके इन निबंधों में सर्वत्र इसीलिये मिलती है कि प्रकृति ने इन उपादानों से उनका गहरा परिचय दीर्घकाल तक रहा है। उनके निबंधों में वर्णन चिंतन के बीच-बीच संस्कृत, अंग्रेजी के उद्धरण भी मिल जाते हैं। पार्थिव धर्म में ग्राम्यगीत,संस्कृत के श्लोक, भागवत और अन्य ग्रन्थों के उद्धरण बराबर मिलेंगे। पार्थिव धर्म के बहाने कितनी ही बातों पर दृष्टिपात किया गया है। उनके विचारों में निर्भीकता, स्वतंत्रता है। उनके गम्भीर विषयों में तार्किक विवेचन,दर्शन और सामासिक संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग है तो सामान्य विषयों में तदानुकूल भाषा शैली का रूप। मिश्र जी के ग्राम्य जीवन से सम्बंधी निबंधों की एक विशेष शैली है। इनमें किसी अंचल विशेष का न तो कोई रूपायित और सजीव व्यक्तित्व ही है और न काल संक्रमित या काल विश्रृंखल आकृतियों, वर्गों और जनजीवन के स्पंदन या कोलाहल वाला कोई मूड है। यहीं तो एक ओर काव्यालंकृत सुकुमारता का कपट कौशल जैसे 'सांझ भई'। 'घने नीम तरु तले' या 'जमुना के तीरे तीरे' आदि निबंधों में और दूसरी ओर भोजपुरी संस्कृति से भी अधिक लोकगीतों और ग्राम्य जीवन के प्रति एक अधिकारी विद्वान का मोह और विरह है।

हास्य-व्यंग्यात्मक भाषा शैली :

पं० विद्यानिवास मिश्र में व्यंग्य अधिक है। हास्य अपेक्षाकृत कम। व्यंग्य भी पैना, तीखा, तिलमिला देनेवाला, अनेक स्थानों पर आक्रामक है। व्यंग्य के भीतर से उभरते हुए उपहास की निर्ममता एवं कटुता जीवन के विभिन्न पक्षों के खोखलेपन को इतनी यथार्थता एवं मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करती है कि मन सिहर उठता है।

स्वातन्त्र्योत्तर कालीन निबंधों में व्यंग्य की ऐसी शैली का प्रयोग कई श्रेष्ठ निबंधकारों ने किया। नयी पीढ़ी के कुछ लेखकों ने केवल हास्य और व्यंग्य का ही माध्यम अपनाया। अर्थात् हास्य की स्थिति व्यंग्य की अपेक्षा थोड़ी अलग है। हास्य विनोद के विषय ढूंढना और आदि से अन्त तक उन्हीं पर कलम चलाना काफी कष्टसाध्य काम है। मानव जीवन के गंभीर प्रवाह में संघर्षमयी परिस्थितियों के वात्याचक्र में जिसे संसार कहते हैं, हास्य और विनोद की अनवरत साधना करते रहना सामान्य व्यक्तियों के बूते की बात नहीं है। विभिन्न विषयों के प्रसंगों और आख्यानकों को लेकर साहित्यिक रचना करना यदि साधारण वस्तुओं का व्यापार कहा जाय तो हास्य-विनोद की विशिष्ट कृतियां प्रस्तुत करना हीरे और मोतियों के क्रय-विक्रय का कार्य कहा जाएगा।

चांदी के टुकड़ों पर और सम्मान की चमक पर अपने को बेचनेवाले हिन्दी के हाथ-पैर, मन और आत्मा से नितान्त पंगु, नये चारण, बड़े अफसरों के पैर छूने में होड़ लगानेवाले, प्रभुताग्रस्त बंधु, दिवालिया योजनाएं, तथाकथित बुद्धिवादिता, लोक संस्कृति का दांभिक प्रेम, विद्यापीठों का निर्जीव अध्यापन, वहां दिया जानेवाला पल्लवग्राही ज्ञान, संस्कृत पाठशालाओं की दयनीय अवस्थाएं, सरकार द्वारा उन्हें प्राप्त दयामय अनुदान उपयोगिता को ही साहित्य का प्राण माननेवाले 'अगुआ' भेदभाव से दुर्बलों पर अधिकार करनेवाले राजनीतिज्ञ, पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशक, साहित्य-चोरी में प्रवीण, साहित्यकार, फ्राइड की कृपा से खुले श्रृंगार को मस्त समाज, दैनिक पंडित, न जाने कितने माध्यमों से लेखक का व्यंग्य गुजरता जाता है। कितने सधे हाथों से वह लिखा गया इसके उदाहरण के लिए जैसे कि-'आलोचना के कुछ लच्छे यहां-वहां जोड़ देते हैं और बस साहित्य के आगे कुसुम, सुमन, सौरभ, पराग, चंद्रिका, कमल, प्रकाश आलोक और किरण जैसा कोई एक शब्द जोड़कर साहित्य के विकास में अभिनव श्रीवृद्धि करने का यश कमा लेते हैं ---------।[99] संस्कृत के प्रलय की बाढ़ पश्चिमोत्तर

कोण से आयी है । शायद उसे वायव्य कोण कहते हैं । इसीलिए उसमें वायु का इतना वेग है, उसने हमारा सब कुछ बहा दिया है यहां तक कि अपनी धरती के प्रति ममत्व भी-------।`[१००] हमारे देश में ऐसे सयाने लोग हैं, जो अपने नाच की अयोग्यता आंगन के टेढ़ेपन के ऊपर थोपने के लिए ऐसे ऐसे झुकाव देते हैं कि अन्न इसलिए पैदा हो रहा है कि चिड़ियां उन्हें खा जाती हैं, बन्दर उन्हें तहस-नहस कर जाते हैं। चूहे उन्हें सुला जाते हैं । इसलिये पहले इनके उपर नियंत्रण होना चाहिए ताकि खेती अपने आप बिना मनुष्य के परिश्रम के अधिक उपजाऊ हो जावे ।`[१०१] `मुझे लगा बेचारे इस समय कितने साधनहीन हैं । न नाच है, न फिल्म है न अलहदत है, अकेलादम बेचारा क्या करे ? ग्राम सेवा का कार्य कुछ हंसी-खेल तो नहीं--------।`[१०२]

हास्य मिश्र जी में बहुत कम मिलता है । `शिव जी की बारात` उनका एकमात्र निबंध निश्चल विनोद की भूमि पर आधारित दिखायी देता है । अन्यथा व्यंग्य और उपहास का स्वर ही निबंधों में सर्वत्र गुंजता हुआ मिलेगा ।उनके निबंधों में अधिकांश स्थानों पर व्यंग्य का ध्येय है जीवन की नसों में फैले हुए विष को उतारना ही । वह बृहत्तर समाज के कष्टों को लोगों को उसकी दु:खती रगों में पहचानना है । उसके जख्मों का `आपरेशन` करना है आधुनिक युग के श्रेष्ठ निबंधकारों में मिश्र जी जैसा न तर्कशील परन्तु अभिनिवेशी व्यंग्य इने-गिने के ही पास है ।

मिश्र जी वर्तमान समस्याओं और साहित्यिक नवीनताओं पर अपने विचार रखते हैं । राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक समस्यायें उनके अनुकूल नहीं हैं। अत: वे उन पर उपालंभ और व्यंग्यात्मक तथा विनोदात्मक ढंग से विचार करते हैं । उनके व्यंग्य बड़े तीखे और ठीक स्थान पर बैठनेवाले होते हैं । विनोद आपका गुदगुदी तो करता ही है कहीं-कहीं अट्टहास वाली नौबत बने भी ला देता है । वे सर्वत्र मैं के माध्यम से ही अपने विचारों भावों को व्यक्त करते हैं । वे नहीं चाहते कि उनके विचार दूसरे के समझे-

जायें अत: वे अपनी स्पष्ट छाप लगा देना चाहते हैं। उनके निबंधों में कहावतों, मुहावरों की प्रयुक्त सहजता के साथ व्यंग्य का प्राधान्य प्रमुख है। व्यंग्य विनोद के प्रसंग हैं वहां का स्वरूप एकदम दूसरा ही मिलेगा। जैसे कि `कैबिनेट की बैठक शुरू होते ही भूतों का प्रदर्शन शुरू हुआ और नारे लगने लगे कि मोग का कोटा बढ़ाया जाय, नहीं तो नशातोड़ हडताल शुरू होगी- भैरव जी बाहर निकले और किसी तरह उपद्रव को शांत किया। उन्होंने अगल-बगल में रहने के लिए दो कमनीय मूर्तियों का चुनाव किया। एक न कलौलेश्वर दूसरे कनड़े बडेश्वर। नकलौलेश्वर जी के नाककान जहां लम्बाई में एक दूसरे से होड करते थे वहां कनडेबरेश्वर की टांगें कैंची-की तरह एक साथ आगे पीछे चलती थी तो कनडेरेश्वर जी के कील पांच वाले पैर जमजमकर धरती पर पडते थे। माथे से लेकर तोंदतक गहरा सिंदूर पोतकर चूहे की नकेल हाथ में पकड़ गजानन जी वट के साथ आगे आगे चलने के लिए मचल गए।`[१०३]

ग्रामीण शब्दावली, लोकोक्तियां और मुहावरे भाषा शैली को रोचक एवं सजीव बना देते हैं। कथोपकथन के ढंग स्वाभाविक हैं। उनकी चौथी पुस्तक `आंगन का पंछी और बनजारा मन` भी उनके पत्रों का संकलन है, इसके बारे में वे लिखते हैं-`इन पत्रों में भ्रमरानन्द की चिट्ठियां भी हैं, जो सरस्वती के सम्पादक आदरणीय भइया (पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी) को लिखी गई हैं। एक तरह से उन्हीं के आशीर्वाद की प्रेरणा से वे लिखी गई है। इस संग्रह में इसीलिए ललित ~~निबंध~~ निबंध वाली बात शायद आपको न मिले। क्योंकि मन की ललिता सुखी सुषुप्त है। हां आपको बातचीत का रस मिल सकता है, क्योंकि गहन चिंतन से कुछ क्षण पनाह पर भावहीनता पाने के लिए ही मैं अब निबंध लिख सकता हूं। बातचीत के विषय भी आपके जाने-पहचाने हैं। मुझे आपको छितवन का अनदेखा पेड़ नहीं दिखलाना है। न संझा की अनसुनी रागिनी ही सुनानी है। मेरी भाषा अब वह बंकिम न रही, हां एक बात है, आक्रोश के स्थान पर आपको व्यंग्य मिलेगा। भावुकता के लिए बदनाम रहा हूं अब बौद्धिक होने की ~~कोशिश~~ कोशिश कर रहा हूं।[१०४] आगे वे लिखते हैं -`मेरे ये निबंध असत्य के प्रतिरोध के प्रयत्न हैं।` आत्म पक्ष की प्रधानता से युक्त स्वच्छन्द निबंधों में हम -

`शिव जी की बारात`, विजयादशमी पर एक पत्र`, `बेचिरागी गांव, संध्या का ध्यान, मुरली की टेर, हल्दी दूब और दधि अच्छत, `अनेन किम् न: छिन्नम्`, चिरइया एक बोलले, आदि का उल्लेख कर सकते हैं।

विचारात्मक भाषा शैली :

साहित्य और संस्कृति मिश्र जी के अध्ययन के मुख्य केन्द्र हैं। अत: इनमें से अधिकांश निबंधों में साहित्य के विविध आयामों की गंभीर चर्चा मिलती है। मिश्र जी कवि साहित्य पात्र को एक ही मानते हैं। अत: संस्कृत साहित्य से हिंदी साहित्य पृथक् नहीं। समस्त भारतीय साहित्य उनकी दृष्टि में एक ही ईकाई है। `लोकसाहित्य की मर्यादा और `लोक साहित्य में शिल्पविधान` निबंध लोक साहित्य की विशेषताओं एवं महत्ता को स्थापित करते हैं। मिश्र जी लोकतंत्र की परिभाषा के आधार पर लोक साहित्य की परिभाषा करते हैं - `वह साहित्य जो लोक के द्वारा लोक के लिए और लोक का अर्थात् लोकभाषा का साहित्य हो उसे लोक साहित्य कहा जा सकता है।[१०५] वह साहित्य इसलिये महान एवं रक्षणीय है कि इसमें संस्कृति के सबसे मर्मभूत, सबसे अनश्वर और सबसे शिवप्रद राग की चिरन्तन अनुगूंज है।

अनेक निबंधों में मिश्र जी ने अपने साहित्य विषयक विचार प्रकट किये हैं। वे मानते हैं कि `साहित्य संस्कृति की सबसे अधिक देश और काल की सीमाओं के बीच में बंधा हुआ भी है और मुक्त भी है। अत: साहित्य उनकी दृष्टि में इतिहास से बंधा हुआ भी है और अलग भी है। भारतीय इतिहास का निर्माण उनकी दृष्टि में साहित्य के बल पर ही हुआ है।`[१०६]

`कला के नैतिक आग्रह` में कला और नैतिकता को लेकर दो प्रधान दृष्टिकोणों की कला अनैतिक है। कला में नीति की संयोजना हो- मिश्र जी का मत है-`जो कलाकार के गंभीर प्रभाव को समझते हैं, वे निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि जब तक कला अपने प्रयोजन में सफल नहीं होती तब तक समाज के उपर अभीष्ट प्रभाव

डालने में समर्थ नहीं हो पाती और कोई दोष रह जाता है तो समाज अनुप्राणित नहीं हो पाता।[१०७] साहित्यिक संस्थाएं आज दिग्भ्रान्त हैं। क्योंकि सर्वत्र ही केवल साहित्य में नहीं, विभिन्न शास्त्रीय विवादों एवं राजनीतिक संघर्षों के कारण अस्थिरता, निर्माण हो गयी है। ऐसी स्थिति में साहित्यिक संस्थाओं को, साहित्यकारों को चाहिए कि भेदाभेद भूलकर एकत्र हों और पाठक की उपेक्षाओं का समाधान करने का प्रयत्न करें। 'साहित्य' आदर्श और यथार्थ का साध्य और साधन का, सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय है।'[१०८] इसे हमें भूलना नहीं चाहिये।

संक्षेप में मिश्र जी की विचारात्मक शैली का स्वच्छ,मार्जित एवं अत्यन्त परिष्कृत रूप उनके इन निबंधों में दिखायी देता है। उनके विचारों पर होने वाले लालित्य के प्रभाव की चर्चा आलोचकों में काफी है। यह सत्य है कि पूर्ववर्ती निबंधों में जैसे 'दीपोयक्ष वार्यताम्' ~~अकेले~~ आदर्शों का द्वन्द्व, इत्यादि में यह प्रभाव है भी अधिक परंतु धीरे-धीरे वह कम होता गया है। इन निबंधों में मिश्र जी का आत्म-विश्वास, उनका स्पष्ट चिन्तन, मौलिक स्थापनाएं एवं गहन अध्ययन सर्वत्र मुखर है। मिश्र जी में दो टूक बात कहने का साहस है। 'परम्परा और आज का कवि', 'स्वाधीनता की भारतीय कल्पना', 'रस सिद्धान्त की सीमा', 'निरपेक्षता किससे ? आदि में अत्यन्त आत्मविश्वासपूर्वक अपनी बात कहने की वृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है।

भाषा इन निबंधों में मिश्र जी की सर्वत्र संस्कृतनिष्ठ परन्तु विचारवहन के लिए योग्य, तरल और परिणामकारक रही है। सूत्र शैली का प्रयोग भी उन्होंने काफी किया है। परन्तु सर्वत्र विचारों का प्रवाह सहज है, और घुमाव-फिराव की वृत्ति नहीं पायी जाती। उस देश के प्रति, उसके साहित्य के प्रति, संस्कृति के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा है। उनकी विचारात्मक शैली में भी श्रद्धा का यह आस्थावान स्वर सतत मुखरित है। 'संस्कृतियों का संबल दो प्रकार का होता है। दो बराबर बलवाली संस्कृतियों का संबल और एक सबल और दूसरी निर्बल संस्कृति का संघात। बराबरबल्ली

बलशाली संस्कृतियां जब एक दूसरे से टकराती हैं, तब प्राय: दोनों के वैशिष्ट्य आत्मरक्षा के प्रयत्न में और अधिक उभरते हैं। अंग्रेजी दासता के बावजूद उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतीय पुनर्जागरण का इतिहास इस बात का जीवित प्रमाण है। सबल संस्कृति जब निर्बल संस्कृति से टकराती है तो दो ही प्रतिक्रियाएं संभव हैं, या तो निर्बल संस्कृति पूर्णतया विलीन हो जाती है या वह अपने टिकाऊ मूल्यों को सबल संस्कृति के मूल्यों से अधीन करके एक नया मूल्य स्तर बना ले।[१०६]

अभिव्यक्ति की ऐसी सुबोधता भी उनकी शैली का एक प्रधान अंग है। जहां भाषा उनकी दुरूह लगती है। वहां दुरूहता विचारों की अस्पष्टता के कारण न होकर, विषय की गंभीरता के कारण ही होती है। गवेषणात्मक वृत्ति भी उनकी सर्वत्र सजग है। अत: उनके निबंधों में ज्ञान की दृष्टि से पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। व्यंग्य एवं उपहास का भी प्रयोग उन्होंने विचारप्रधान निबंधों में प्रतिपादन की तीक्ष्णता को बनाये रखने के लिए सर्वत्र किया। कभी प्रश्नोत्तर शैली में कभी व्यास शैली में, कभी धारा शैली में, कभी कथा शैली में उनके निबंधों का विकास होता रहता है और इन सबके मिश्रण के कारण उनकी विचारात्मक शैली सजीव एवं आकर्षक प्रभावी होती गयी है।

उपसंहार :

पं० विद्यानिवास जी अपने समकालीन और समान वय के लेखकों से श्रेष्ठतम और भिन्न हैं। उनके निबंध कहीं-कहीं तो वास्तव में काव्य हो गये हैं। यदि रस का परिपाक काव्य का मुख्य लक्षण है तो उनके निबंधों में गद्यकाव्य के गुण भी वर्तमान हैं। इतना ही नहीं, ताजगी उनके निबंधों का एक अन्य विशेष गुण है। कोई भी निबंध घिसे-पिटे विषय पर नहीं है। केवल विषय ही मौलिक नहीं है। प्रत्युत उनका दृष्टिकोण भी मौलिक है। उनके निबंधों में से शायद ही कोई ऐसा मिलेगा जिसमें कही गयी बात या प्रतिपादित दृष्टिकोण में अन्य लेखकों का अनुसरण हो। इनके

निबंधों में लेखक की बोलती हुई पीड़ा का साक्षात्कार है जो कहीं हमारे विचारों पर आघात करती है, कहीं हमारे हृदय पर चोट करती है तो कहीं स्थिति के व्यंग्य को प्रदर्शित कर हममें व्यथा भरी मुसकान उत्पन्न कर देती है। उस पीड़ा का दर्द सात्विक रहता है, जो हमारे जीवन के शिवत्व को छूता है, उन्हें जगाता है , जब तक इनमें व्यथा अनुभव की क्षमता है तब तक हम और हमारे लिए आशा है । हमारे हिन्दी साहित्य में व्यक्तिगत निबंध लिखने में समर्थ ऐसे लेखक बहुत थोड़े हैं । व्यक्तिगत निबंध का लेखक किसी एक विषय को ~~कोलतन~~ छेड़ता है किन्तु जिस प्रकार वीणा के एक तार को छेड़ने से बाकी सभी तार स्वयं झंकृत हो उठते हैं उसी प्रकार उस विषय को छूते ही लेखक की चित्त भूमि पर बंधे हुए सैकड़ों विचार बज उठते हैं । लेखक जितना ही बहुश्रुत और सहृदय होगा निबंध उतना ही प्रेरक और सरस होगा । यहां पर व्यक्तिगत निबंध 'निबंध इसीलिए है कि वे लेखक के समूचे व्यक्तित्व से संबद्ध है । लेखक की सहृदयता और चिंतनशीलता ही उसके बंधन हैं। श्री विद्यानिवास जी के निबंधों में उक्त सभी गुण पाए जाते हैं । वे संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति परम्परा के पंडित हैं । छोटे-छोटे हल्के विषयों को स्पर्श करते समय भी उनके मानस के अंतराल में स्थित भाव अनायास उनकी कलम की नोंक पर आ जाते हैं और आधुनिक युग के अनेक उलझे हुए प्रश्नों पर समाधान का आलोक दे जाते हैं ।

--

सन्दर्भ- ग्रन्थ

१-	तुम चन्दन हम पानी	पं० विद्यानिवास मिश्र	पृ० ५५
२-	वही-	,,	पृ० ६०
३-	मेरे निबंध मेरी पसंद के	,,	पृ० ६७
४-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० १
५-	वही-	,,	पृ० ६
६-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ० ६६
७-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० ३८
८-	छितवन की छांह	,,	पृ०५५
९-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ०१००
१०-	वही-	,,	पृ०१०८
११-	तुम चंदन हम पानी- बेचिरागी गांव-	,,	पृ०११७-११८
१२-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है-	,,	पृ० ४५
१३-	परम्परा बन्धन नहीं-	,,	पृ० ९२
१४-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० १०८
१५-	वही-	,,	पृ० ६२
१६-	परम्परा बंधन नहीं	,,	पृ०७४
१७-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० ५४
१८-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ० १६१
१९-	वही-	,,	पृ० १६९
२०-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० ३२
२१-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० ४८
२२-	वही-	,,	पृ० ८३
२३-	छितवन की छांह	,,	पृ० ९९
२४-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ०७२
२५-	छितवन की छांह	,,	पृ०१०५
२६-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ०९१

२७-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	पं० विद्यानिवास मिश्र	पृ०१७
२८-	वही-	,,	पृ०११४
२९-	परंपरा बंधन नहीं	,,	पृ० ३०
३०-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० १००
३१-	छितवन की छांह	,,	पृ०३४
३२-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ०६४
३३-	तुम चन्दन हम पानी	,,	पृ०२५
३४-	वही-	,,	पृ०३०
३५-	वही- कला शक्ति और शिव	,,	पृ०४४
३६-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० ५७
३७-	मेरे निबंध मेरी पसंद के	,,	पृ० ७८
३८-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० १५६
३९-	परंपरा बंधन नहीं	,,	पृ० ४९
४०-	वही-	,,	पृ० ५४
४१-	तुम चन्दन हम पानी	,,	पृ०१४३
४२-	परंपरा बंधन नहीं	,,	पृ०६६
४३-	~~तुम-चंदन-हम-पानी~~ -वही-	,,	पृ०८१
४४-	वही-	,,	पृ०८७
४५-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ०१०
४६-	वही-	,,	पृ० १
४७-	वही-	,,	पृ० ६
४८-	वही-	,,	पृ०१२०
४९-	मेरे निबंध मेरी पसंद के	,,	पृ० ४३
५०-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० ९
५१-	छितवन की छांह	,,	पृ०४४

५२-	तुम चंदन हम पानी	पं० विद्यानिवास मिश्र	पृ० १२५
५३-	वही-	,,	पृ० १५५
५४-	मेरे निबंध मेरी पसंद के	,,	पृ० १
५५-	वही-	,,	पृ० ५
५६-	वही-	,,	पृ० १०
५७-	वही-	,,	पृ० १६
५८-	वही-	मृ० ,,	पृ० २३
५६-	वही-	मृ०-६१ ,,	पृ० ६१
६०-	वही-	,,	पृ० ११२
६१-	छितवन की छांह	,,	पृ० ५०
६२-	वही-	,,	पृ० ७२
६३-	वही-	,,	पृ०
६४-	वही-	,,	पृ० ६१
६५-	वही-	,,	पृ०
६६-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० ५०
६७-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० ३३
६८-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० १०
६६-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० १४५
७०-	तुम चन्दन हम पानी	,,	पृ० ७६
७१-	वही-	,,	पृ० ८८
७२-	वही-	,,	पृ० ६५
७३-	परंपरा बंधन नहीं-	,,	पृ०४२
७४-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ०७७
७५-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ०१५१
७६-	मेरे निबंध मेरी पसंद के	,,	पृ०४६
७७-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ०८६

७८-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	पं० विद्यानिवास मिश्र	पृ० १०४
७९-	तुम चंदन हम पानी	,,	पृ० १६६
८०-	परंपरा बन्धन नहीं	,,	पृ० ११
८१-	वही-	,,	पृ० १६
८२-	वही-	,,	पृ० २४
८३-	मेरे निबंध मेरी पसंद के	,,	पृ० ८४
८४-	छितवन की छांह	,,	पृ०
८५-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ०१३३
८६-	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	,,	पृ० १८
८७-	छितवन की छांह	,,	पृ० १९
८८-	वही-	,,	पृ०२६
८९-	हरसिंगार-छितवन की छांह	,,	पृ०२९
९०-	वही-	,,	पृ० ३१
९१-	टिकोरा -छितवन की छांह	,,	पृ० ११३
९२-	दिये बाती का मेल-आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० ८५
९३-	छितवन की छांह	,,	पृ० २४
९४-	आंगन का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ० ९७
९५-	तुम चन्दन हम पानी	,,	पृ० ११५
९६-	कदम की फूली डाल	,,	पृ० ३७
९७-	अमरकंटक की सालती स्मृति - कदम की फूली डाल	पं० विद्यानिवास मिश्र	पृ०२३
९८-	कलचुरियों की राजधानी व गुर्गी - कदम की फूली डाल	,,	पृ० ४३
९९-	छितवन की छांह	,,	पृ०३६

१००-	छितवन की छांह	पं० विद्यानिवास मिश्र	पृ० १२७
१०१-	आंगन कठे का पंछी और बनजारा मन	,,	पृ०१२
१०२-	वही-	,,	पृ० ५७
१०३-	वही-	,,	पृ० ४९
१०४-	शिवजी की बारात-तुम चंदन हम पानी	,,	पृ० ४९
१०५-	लोक साहित्य की मर्यादा	,,	पृ०
१०६-	साहित्य और इतिहास-कदम की फूली डाल	,,	पृ० ९१
१०७-	कला में नैतिकता का आग्रह ,,	,,	पृ० ८९
१०८-	दिग्भ्रम क्यों	,,	पृ० ९६
१०९-	साहित्य की चेतना	,,	पृ० ८२

0000000
00000
000
0